प्रकाशक :

ग्राम भावना प्रकाशन
पट्टीकल्याणा (करनाल) पंजाब

प्रथमावृत्ति
प्रतियाँ ३७००
मूल्य २ ००
३० जनवरी, १९६६

मुद्रक :
उद्योगशाला प्रेस,
किंग्सवे कैम्प, दिल्ली-९

दो शब्द

मुनि श्री संतबाल जी की आर्दश 'गृहस्थाश्रम' पुस्तक का हिन्दी अनुवाद पहली बार प्रकाशित हो रहा है। मूल पुस्तक गुजराती में है और अबतक इस के छः संस्करण प्रकाशित हो चुके है। मुनीश्री संतबालजी उच्चकोटि के धर्म परायण तथा संतवृत्ति के महान् व्यक्ति है। उनका मानना है कि आदर्श गृहस्थाश्रम केवल एक घर या कुटुम्ब तक ही सीमित नहीं है। उसकी परिधि में व्यक्ति से लेकर जगत् के सभी प्राणिमात्र तक आजाते है। इस का सम्बन्ध सामाजिक, आर्थिक, नैतिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक तथा आध्यात्मिक सभी क्षेत्रों से आता हैं। इस दृष्टि से यह पुस्तक सबके लिये अत्यन्त उपयोगी तथा मानव जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति में धर्म की पुट डालने वाली होगी। 'ग्राम भावना प्रकाशन' को यह गर्व है कि वह ऐसा महान् ग्रंथ प्रकाशित कर रहा है। आशा है हिन्दी जगत् इस का पूरा लाभ उठायेगा।

—*ओम् प्रकाश त्रिखा*

प्रस्तावना

तीस वर्ष व्यतीत हुए जब 'आदर्श गृहस्थाश्रम' की प्रथम आवृत्ति गुजराती मे प्रकाशित हुई थी। अभी उसकी छठी आवृत्ति प्रकाशित हुई है। हिन्दी मे यह पहली ही आवृत्ति प्रकाशित हो रही है। हिन्दी राष्ट्रभाषा होने के कारण भारत के प्राय सभी प्रान्तो के विद्यालयीय पाठ्यक्रम मे इसे वैकल्पिक रूप से अपनाया गया है। इसलिए सभी प्रान्तो की जनता 'आदर्श गृहस्थाश्रम' के हिन्दी-सस्करण से भलीभाति लाभ उठा सकेगी और जिस प्रकार गुजरात मे गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करने-वाले नवदम्पति को यह पुस्तक सम्बन्धियो की ओर से भेंट मे दी जाती है, वैसे ही अन्य प्रान्तो मे भी ऐसा रिवाज प्रचलित हो सकेगा। हिन्दी-सस्करण के प्रकाशित होने का मुख्य श्रेय यो तो श्री शान्तिभाई वनमाली शेठ को है। गतवर्ष हमारा चातुर्मास भारत की राजधानी दिल्ली मे था, तब ३५ साल बाद श्री शान्तिभाई का गहराई से सम्पर्क हुआ। उनका जैन-धर्म के साथ परम्परागत घनिष्ठ सम्बन्ध होने से 'सर्वोदय-तीर्थ' जैन-धर्म का एक प्राचीन नाम है, ऐसा उनका स्पष्ट मन्तव्य है। सचमुच देश और विश्व को गाधीजी द्वारा दिया गया सर्वोदय-मत्र जैनो के लिए नया नही है। इसी दृष्टि से श्री शान्ति भाई गाधी-विचारधारा के प्रौढ रचनात्मक कार्यकर्ताओ के सान्निध्य मे रहते है। काका कालेलकर के साथ उन्होने काम किया है और करते है। इसी दृष्टि से उन्हे सर्वजनोपकारी सर्वोदय-दृष्टि-प्रदायक साहित्य-प्रकाशन की वात सूझी और तदनुसार गाँधी-स्मारक-निधि की पजाब शाखा के मन्त्री श्री ओम्-प्रकाश जी त्रिखा ने इसके हिन्दी-रूपान्तर को प्रकाशित करने और कम-से-कम मूल्य मे जनता के हाथो मे पहुचाने की इच्छा प्रकट की। तद-नुसार मेरे प्रिय साथी मुनि नेमिचन्द्रजी ने इसका सक्षिप्त और सार-

गर्भित हिन्दी-रूपान्तर किया । इस प्रकार यह पुस्तक अपने अनूठे रूप मे हिन्दी भापा-भापी जनता के हाथो मे सर्वसुलभ बनकर पहुच रही है।

श्रीयुत् ओम्प्रकाशजी त्रिखा को 'सर्व-धर्म समन्वय' मे काफी दिलचस्पी है, यह जानकर मुझे सतोप हुआ, क्योकि 'सर्वधर्म-उपासना' व्रत तो विश्ववात्सल्य ध्येय को प्राप्त करने का अनिवार्य व्रत है और उसका आचार भालनलकाठा-प्रयोग के सदर्भ मे वर्षो मे हो चुका है । इसके सम्बन्ध मे 'साधु-साध्वी शिविर' के प्रवचनो मे 'सर्वधर्म-उपासना' नामक प्रवचन-सग्रह भी पुस्तकाकार गुजराती मे प्रकाशित हो चुका है । इसका हिन्दी-रूपान्तर होना भी जरूरी है । सभव है, श्री त्रिखाजी के प्रयत्नो से वह भी प्रकाशित हो, अस्तु ।

प्रत्येक प्रवृत्ति में धर्म का पुट

आदर्श गृहस्थाश्रम केवल एक घर या कुटुम्ब तक ही सीमित नहीं है । उसकी परिधि मे व्यक्ति से लेकर विश्व (जगत् के सभी प्राणिमात्र) तक आ जाते हैं । इसी प्रकार वह सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक-साम्प्रदायिक, नैतिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक (राष्ट्रीय एव आन्तर्राष्ट्रीय) एव आध्यात्मिक आदि सभी क्षेत्रो से भी सम्बद्ध है । इसलिए इस पुस्तक मे इन सबके बारेमे सांगोपांग विवेचन किया गया है । और इन सब क्षेत्रो या विश्व के प्राणिमात्र तक के साथ कर्तव्य-सम्बन्ध से जोड़नेवाला तत्त्वधर्म है, जिसे भारतीय मानव-समाज के मनस्वियों ने प्रत्येक प्रवृत्ति के साथ-साथ सलग्न रखा है और रखने का निर्देश किया है । इसी कारण धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों के साथ धर्म को सलग्न रखकर धर्म पुरुषार्थ का अनुपालन भारत के जनजीवन मे निरन्तर होता आया है । भारतीय जनता दूसरे किसी तत्त्व के अंकुश मे स्वेच्छा से नहीं रही, वह धर्म के ही अंकुश में स्वेच्छा से रहने की अभ्यस्त है । वह बड़े-से-बड़े सत्ताधारी या धनिक के आगे स्वेच्छा से नहीं झुकती, किन्तु समाज-[illegible] ब्राह्मण [illegible] एव साधु-सन्यासियों [illegible] वचनो मे

अपना गौरव महसूस करती है, क्योकि धर्म-पुरूषार्थ के प्रेरक एव मार्ग-दर्शक ये ही दोनो बल यहा रहे है। इस दृष्टि से भारत धर्मप्रधान राष्ट्र माना जाता है। यहा धर्म और अध्यात्म को सिर्फ शब्दो या क्रिया-काण्डो का ही नही, अपितु प्रधानतया जीवन का आचार माना है। जगत् के विविध धर्मों की स्थापना और प्रसार विविध देशो में अवश्य हुआ है, परन्तु उन सभी धर्मों की क्रीड़ा-स्थली और सस्करण-भूमि तो भारतवर्ष की गोद ही रही है। इसीलिए भारत मे सभी देशो की जनता और प्राय सभी धर्मों के गुरुओ को रहने और विकास करने का मौका मिला है। वर्तमान भारतीय जनता मे सरगम के सप्तस्वरी सगीत सवादन की तरह सभी धर्मों के मधुर सगीत का सम्मिश्रण हुआ है। यही कारण है कि दुनिया के उच्च-कोटि के विचारक एकबार भारतीय माता के उदर में जन्म धारण करने और भारतवर्ष को अपनी जन्मभूमि कहलाने के मधुर मनोरथ करते है, क्योकि यहा ज़िन्दगी के प्रारम्भ से अन्त तक धर्म-सम्कार का निर्देश, और मार्ग-दर्शन मिला करता है।

वर्तमान भारत

वर्तमान भारत हमे जरा विचित्र-सा लगता है। धर्म प्रधान भारत राष्ट्र मे आज नीति चौपट हो रही है, साथ ही अनेक दोष दृष्टिगोचर होते है। इसका मुख्य कारण शहरो, बुद्धिजीवियो और भोगवादी मनोवृत्ति के लोगो पर पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव का जम जाना है। खुशी की बात है गत शताब्दि मे कुछ ऐसे महापुरुष इस देश मे पैदा हुए, जिन्होंने त्यागप्रधान वृत्तिवाले लोगो को जन-जीवन के मैदान मे लाने का महान् कार्य किया, जिनमे से महात्मा गाधीजी का नाम उल्लेखनीय है, क्योकि उन्होने गृहस्थाश्रम मे रहकर विश्व मे शुद्ध धर्म—सत्य, अहिसा, त्याग-तप को सर्वोपरि-प्रतिष्ठा दिलाई। किंतु दुर्भाग्य से इन धर्म-तत्त्वो को विश्व-प्रतिष्ठित करने के लिए जिस सस्था (राष्ट्रीय महासभा) को माध्यम बनाया था, उसे राजनैतिक क्षेत्र सभालना पड़ा, और तभी से राज्य द्वारा

अहिंसक क्रान्ति का सूत्र मुख्य बन गया। फलत सत्य-अहिंसा और त्याग-तप का सीमित बनना स्वाभाविक था। इसीलिए जीवन की सन्ध्या वेला मे गाधीजीका मन सताप बढ गया था। उन्होने कहा—"क्या ऐसा तो नही हुआ कि जनता गुलाम थी तब तक उसे मेरी जरूरत थी और अब-जब जनता मुक्त हुई, इसलिए स्वतत्र भारत मे उसे अब मेरी कोई जरूरत न रही ? क्या मानवता और सस्कृति को दूर फेंक देना ही स्वतत्रता का अर्थ है ?"

धर्म के सिवाय भारतवर्ष को आप कदापि वश मे नही कर सकेंगे, भारतीय जनता मे प्रविष्ट दोषो को नही निकाल सकेंगे। इसी परिस्थिति के कारण यहा राज्य की अपेक्षा जनता बडी रही है। आज जनता का प्रभाव पुन प्रस्थापित करना है। वह आदर्श गृहस्थाश्रम के सस्कारो से हो सकेगा, क्योंकि कुटुम्ब से ही सस्था और समाज का सुनिर्माण होता है। इसीलिए गाधीजी ने आश्रम द्वारा विश्व कुटुम्बिता का प्रयोग किया, उसके फल के रूप मे, मजदूर सगठन, हरिजन-सेवक सगठन, खादी-ग्रामोद्योग सस्था, नई तालीम सघ आदि सगठन बनाए। आज उसी प्रकार के नीति-धर्म (सत्य, अहिंसा, तप-त्याग) पर आधारित जनता एव जन-सेवको के सगठन भारत के गाव-गाव और नगर-नगर मे स्थापित करने चाहिए, ताकि गाधीजी की कल्पनानुसार गृहस्थाश्रम आदर्श एव विश्वव्यापी बन सके।

आदर्श गृहस्थाश्रम

इसी दृष्टिकोण को लेकर यह पुस्तक लिखी गई है। साथ ही इसमें गृहस्थाश्रम को विश्वव्यापी बनाने के लिए भाल नलकाठा प्रदेश में धर्ममय समाज-रचना प्रयोग के अनुभव भी अकित किये गए हैं, क्योंकि भारत की कुटुम्ब-रचना विश्व-समाज की रचना की एक छोटी-सी ऐसी इकाई है कि उसकी सर्वांगसुन्दरता का प्रभाव केवल भारत को नहीं, विश्व को भी जगाने में सहायक सिद्ध होगा। इस दृष्टि से इस पुस्तक की उपादेयता

एव महत्ता काफी बढ जाती है। आखिर उच्च सेवक, ऋषि-मुनि या साधु-सत रत्न भी तो गृहस्थाश्रम की खान मे से ही निकलते है न ? एक सादी कहावत है—"कुएं मे पानी हो तभी हौज मे आएगा" जैन-धर्म-ग्रथो में जगत् का सर्वोच्च जीवन साधु-जीवन बताया है, तथापि उन साधु-साध्वियो के माता-पिता के रूप मे तो गृहस्थाश्रमी नर-नारियो को ही माना है। गृहस्थाश्रम मे मोक्षप्राप्ति भी हो सकती है, पर वह कैसे, किस विधि से हो, इसका सर्वांग सम्पूर्ण विचार 'आदर्श गृहस्थाश्रम' मे किया गया है।

आशा ही नही, पूर्ण विश्वास है कि श्री शान्तिभाई ने श्री त्रिखाजी के सहयोग से जो कदम उठाया है, उससे आदर्शगृहस्थाश्रमी जीवन मे रुचि रखनेवाली जनता पूरा लाभ उठायेगी।

कमाणी जैनभवन, भवानीपुर
कलकत्ता-२०
ता० २०-८-६४

—संतबाल

विषय-सूची



आदर्श गृहस्थाश्रम

[निर्देश खण्ड]

समग्र मानव-समाज पर एक दृष्टि

वैदिक धर्म का प्राचीन ग्रन्थ महाभारत है। उसमें यह श्लोक है —

'एक एव इद सर्वं पूर्वमासीद्युधिष्ठिर !
क्रियाकर्म-विभेदेन चातुर्वर्ण्यं व्यवस्थितम् ॥'

अर्थात्—पूर्वकाल मे यह सारा विश्व एक ही प्रवाह मे बहता था, परन्तु बाद मे राष्ट्र की व्यवस्था सुरक्षित रखने के लिए क्रिया और कर्म के भेद के अनुसार चार वर्णों मे सारा समाज विभाजित किया गया। वे चार वर्ण ये थे—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र।

विद्या और सस्कृति का जनता मे प्रचार करने वालो की गणना ब्राह्मण वर्ण मे, प्रजा की सुरक्षा करने वालो की गणना क्षत्रिय वर्ण में, वाणिज्य द्वारा जनता की सेवा करने वालो की गणना वैश्य वर्ण मे और सेवाभावी वर्ग की गणना शूद्र वर्ण मे होती थी। इसी कथन की पुष्टि जैन और बौद्ध शास्त्रो मे मिलती है —

'कम्मुणा ब्रह्मणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तियो।
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा ॥'

अर्थात् वर्ण-व्यवस्था जन्मगत नही, परन्तु कर्मगत है। कर्म से ही मनुष्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जाना जाता है।

'न जच्चा वसलो होति, न जच्चा होति ब्रह्मणो'
कम्मुणा वसलो होति, कम्मुणा होति ब्रह्मणो ॥
सक्ख खु दीसई तवोविसेसो,
न दीसई जाइविसेस कोई ।

अर्थात्-जन्म-जाति से कोई ब्राह्मण या शूद्र नहीं होता अपितु गुण-कर्म से ही ब्राह्मण या शूद्र होता है। क्योंकि—वास्तव मे सभी जगह तप-गुण की ही विशेषता है, कही पर जाति की विशेषता दिखाई नही देती है।

पूर्व चित्र

मानव जाति जब तक इस प्रकार समाज के रूप मे परिणत नही हुई थी, तब तक कैसी स्थिति मे थी, इसका उल्लेख प्राचीन जैन शास्त्रो के इतिहास मे मिलता है—"अनेकानेक वर्षो पूर्व जब मानवजाति बिल्कुल अज्ञान थी, अपनी जाति मे सम्बन्धित नियमो तक का उसे भान न था, शरीर-निर्वाह के उपयोगी साधनो के ज्ञान से भी वह वचित थी, तब की यह बात है।"

उद्बोधक

जैन शासनके आदि तीर्थंकर तथा वेद और भागवत मे जिन्हे आदरणीय व पूज्य माने गये है, वे भगवान् ऋषभदेव मनुष्य-समाज के आद्य उद्बोधक और प्रेरक थे। उन्होने अविकसित मानव-समाज को शरीर-शास्त्र, कृषि-विद्या, वाणिज्य-विद्या, एव शस्त्र-विद्या की व्यावहारिक तालीम दी। मानव जीवन को टिकाए रखने के लिए अन्न की अनिवार्य आवश्यकता की पूर्ति कृषिविद्या से हुई। पारस्परिक विनिमयादि व्यवहार मे वाणिज्य-विद्या से सरलता हुई और शस्त्र-विद्या से प्राणिवर्ग का सरक्षण करने की अनुकूलता पैदा हुई। इस प्रकार विभिन्न विद्याओ और कलाओ के शिक्षण द्वारा समाज उन्नति करने लगा।

समाज की उत्पत्ति

इस तरह सैकड़ो वर्षों तक मानवजाति अनेक प्रकार की नई-नई

खोज करती और बुद्धिबल विकसित करती जाती थी। उस समय यानी महाभारत काल से पहले यह मनुष्यजाति समाज रूप मे परिणित हुई और विशिष्ट कर्त्तव्य विभाजन या कार्यव्यवस्था की दृष्टि से उसे क्रमश ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सज्ञा प्राप्त हुई।

आश्रम-व्यवस्था का प्रारम्भ कब से और क्यो ?

वर्णव्यवस्था के बाद मानव-समाज मे जीवन-विकास के विशिष्ट हेतु को लेकर आश्रमव्यवस्था उत्पन्न हुई। शारीरिक और मानसिक शक्तियो की जानकारी होने के बाद मानव-समाज जबसे यह समझने लगा कि इन उभय शक्तियो का कोई न कोई प्रेरक तत्त्व अवश्य अपने मे रहा हुआ है, तबसे उसमे आत्म-तत्त्व के शोध की तीव्र जिज्ञासा जागी और उससे सम्बन्धित नीति और धर्म जैसे सर्वांगीण आत्मविकास मे उपयोगी तत्त्वो का सृजन हुआ। ऐसे ही प्रसग मे आश्रम-व्यवस्था की प्रणालिका का प्रारम्भ हुआ मालूम होता है। परन्तु उस समय तक तो मानवसस्कृति-विकास के दो प्रवाह होने चाहिए, जिनका उल्लेख जैन और बौद्ध धर्म के प्राचीन ग्रन्थो मे आता है—गृहस्थ-जीवन (आगारिमग्गो) और त्यागी-जीवन (अणगारिमग्गो)।

चार आश्रमो की प्रणालिका

इन दोनो मार्गों की विशिष्ट योग्यता और सुव्यवस्था सुरक्षित रखने के लिए वैदिक धर्म ने जीवन-विकास के चार विभाग किये हो, ऐसा जान पडता है। सन्यासाश्रम का अतिस्पष्ट उल्लेख तो जगद्‌गुरु शकराचार्य के काल के पश्चात् ही मिलता है। उन चारो आश्रमो का नाम क्रमश इस प्रकार है—(१) ब्रह्मचर्याश्रम, (२) गृहस्थाश्रम, (३) वानप्रस्थाश्रम और (४) सन्यासाश्रम (त्यागाश्रम)।

ब्रह्मचर्याश्रम

ब्रह्मचर्याश्रम यानी जीवन-शक्ति को सगृहीत करने का अत्युत्तम स्थान जिसमे रहकर वीर्य की सुरक्षा और उसका स्तभन हो सके, उस आश्रम का नाम 'ब्रह्मचर्याश्रम' है। यह चारो आश्रमो का मूल और जीवन-विकास की दृढ नीव के समान है। बाल्यकाल मे मानस बिल्कुल कोरा होता है, उस पर मनचाहे सस्कृतिचित्र अकित किए जा सकते है। उसके लिए पूर्वकाल मे उदीयमान प्रजा-जीवन मे सुसस्कृति के बीजारोपण के हेतु गुरुकुलो की व्यवस्था प्रचलित थी। गुरुकुलो मे बाल-विद्यार्थियो को २५ साल तक की उम्र तक रखा जाता था। सामान्यत: मनुष्य का जीवनकाल सौ वर्ष का निश्चित करके समाज-शास्त्रियो ने आश्रम को चार भागो मे विभाजित किया है। इस अपेक्षा से ब्रह्मचर्याश्रम-काल २५ वर्ष तक का माना गया है।

ब्रह्मचर्य जीवन की बुनियाद में क्यों ?

बाल्यकाल मे जिसका ब्रह्मचर्य खण्डित हो गया, वह न तो त्यागी बन कर शान्ति प्राप्त कर सकता है और न गृहस्थाश्रम को ही सफल बना सकता है बल्कि वह स्वय दु खी होता है और दूसरो के दु ख का कारण बनता है। हर तरह से ऐसे व्यक्ति का जीवन विश्व पर बोझरूप हो जाता है। कच्ची उम्र मे सेवित अब्रह्मचर्य तो जीवनशक्ति के मूल पर ही प्रहार करता है। इसलिए जीवन की बुनियाद—उदीयमानकाल मे ब्रह्मचर्याश्रम द्वारा ब्रह्मचर्यपालन की योजना की गई है। ब्रह्मचर्य के महत्व के बारे मे पूर्व और पश्चिम के सभी राष्ट्र एकमत है, उपायो के बारे मे भले ही मतभेद हो।

ब्रह्मचर्याश्रम की प्रणालिका

इसीलिए प्राचीनकाल मे बाल्यकाल से ब्रह्मचर्य-पालन के लिए

आश्रम-पद्धति प्रचलित थी। उस प्रणाली से उस समय की प्रजा की बाल-सस्कृति मे चार महान् सद्‌गुण व्याप्त होते थे–(१) विश्वबन्धुत्व, (२) स्वावलम्बन, (३) सदाचार (४) और कर्त्तव्यपरायणता। ये चारो सद्‌गुण सच्ची सुख प्राप्ति के लिए प्रत्येक आश्रम के लिए समान रूप से उपयोगी है।

आश्रम-जीवन के चित्र

उस काल मे गृहस्थ जीवन के वैभवविलासो को छोडकर, अरण्य के नैसर्गिक सौन्दर्य मे जो ऋषिवर्ग वानप्रस्थजीवन बिताता था, अपनी आवश्यकताएँ कम-से-कम करके, खेती द्वारा स्वावलम्बी जीवन जीता था, उस प्रौढ, पवित्र और सदाचारी वर्ग के चरणो मे गृहस्थवर्ग अपनी सतान को सौपता था। वहाँ राजा और रक के भेद नही थे, और न थी उच्च-नीच भाव की मलिन वृत्ति। वहाँ मानव-मानव मे समानत्व और समान कर्त्तव्य व अधिकार होते थे। जो कार्य सुदामा जैसे निर्धन ब्राह्मणपुत्र को करना होता था, वही कार्य राजपुत्र श्री कृष्ण को भी करना होता था। वहाँ न थे नगर-जीवन के कृत्रिम स्नेह और स्वार्थ की दुर्गन्ध! वहाँ स्वाभाविक अखण्ड स्नेह-सौरभ फैल रही थी। उनके कानो मे विभिन्न शब्दो की ध्वनि नही पडती थी और न शहरी जीवन के शृ गार चित्र उनकी आँखे देखती थी। अपितु उनके कर्णकुहरो को प्रकृति के भावमय गूजन स्पर्श करते थे और आँखो को मृगशावको के निर्दोष विनोद दृष्टिगोचर होते थे।

ऋषि-पत्नियो के पूर्ण वात्सल्य और पवित्र वातावरण मे ब्रह्मचर्य का पालन सहज स्वाभाविक रूप से होता था। उन माताओ की मगल-मयी मूर्ति देखते ही मातृभाव के विशुद्ध सस्कार जागृत हाते थे। ऐसी सस्कृति मे जो बालक लगातार १५ वर्ष तक रहे, उसको शक्ति और ओज कितने पैदा हो सकते हैं, इसकी कल्पना भी भव्य और आल्हादक है।

ब्रह्मचर्याश्रम की दो श्रेणियाँ

ब्रह्मचर्याश्रम को पार करने के बाद जिस युवक को गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होकर परोपकार, दान, दया आदि सद्‌गुणो द्वारा समाज सेवा और सुन्दर तथा सुदृढ सतान पैदा करने की वृत्ति होती थी, उस उप-कुर्वाण ब्रह्मचारी युवक का सुयोग्य पत्नी के साथ पाणिग्रहण कराकर गृहस्थाश्रम मे प्रवेश कराया जाता था और उस विवाहित दपति की गृहस्थाश्रम-प्रवेश के पहले उस आश्रम को सुन्दर, सुखद और मधुर वनाने की शिक्षा दी जाती थी ।

परन्तु जो युवक आजीवन ब्रह्मचर्य पालन करने मे समर्थ होता वह नैष्ठिक ब्रह्मचारी रहकर उपदेशक या त्यागी-सस्था मे प्रविष्ट होकर जनता के विभिन्न वर्गों मे धर्म-जागृति का महत्वपूर्ण कार्य करता था ।

इस पर से यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्मचर्य के वाद गृहस्थाश्रम की भूमिका किस परिस्थिति मे और किस तरह प्रारम्भ होती थी । इसलिए ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम और त्यागाश्रम इन दोनो का मूल है । इससे इन तीनो का परस्पर गाढ सम्वन्ध है ।

गृहस्थाश्रम श्रेष्ठ या त्यागाश्रम !

वानप्रस्थाश्रम तो लगभग त्यागाश्रम जैसा ही होता है। अन्तर सिर्फ यही है कि वानप्रस्थाश्रमी को त्यागी के जितने कडे नियमो का पालन करना नही होता और वह गृहस्थाश्रम से सम्बन्धित सत्कर्मों का अनासक्तिपूर्वक आचरण अवश्य कर सकता है, जबकि त्यागाश्रमी को गृहस्थजीवन से सम्बन्धित किसी कार्य मे प्रत्यक्ष भाग लेना नही होता। इतने विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि ये सभी आश्रम एक दूसरे के सहायक और पोषक हैं, बाधक नही।

सवाल यह होता है कि त्यागाश्रम और गृहस्थाश्रम इन दोनो मे उत्तम आश्रम कौन-सा है ? इस सम्बन्ध मे विविध मान्यताएँ और मत-भेद पाये जाते है। एक पक्ष कहता है—'गृहस्थाश्रमसमो धर्म न भूतो न भविष्यति।' गृहस्थधर्म जैसा कोई भी उत्तम धर्म नही है। उसके निम्नलिखित कारण है —

(१) भ० महावीर, भ० बुद्ध, भ० कृष्ण जैसी विश्ववन्द्य विभूतियाँ गृहस्थाश्रम के उत्तम फलस्वरूप ही पैदा हुई थी, जिन्होने विश्व के दीन, हीन एव पामर प्राणियो का उद्धार किया है। (२) भीष्म और कर्ण जैसे अनेक वीररत्न गृहस्थाश्रम के रत्नाकर मे से ही पैदा हुए हैं, जिन्होने भारतीय सस्कृति को वीरता की चमक से उज्ज्वल किया है। (३) सन्यासी त्यागी, ब्रह्मचारी, ग्लान, रोगी, बाल और वृद्ध आदि सभी के रक्षण और पालन का आधार गृहस्थाश्रम ही है। (४) सारे ससार की उत्पत्ति का मूल भी गृहस्थाश्रम से ही होता है। इन कारणो से गृहस्थाश्रम को उत्तम मानने से कौन इन्कार कर सकता है ?

दूसरे पक्ष का कहना है कि त्यागाश्रम ही उत्तम है, क्योकि त्याग के विना मानव-जीवन का विकास सम्भव नही है। त्याग ही मुक्ति की

साधना का मार्ग है। अनेक त्यागी महानुभावो ने इस मार्ग को अगीकार करके स्व-पर-कल्याण साधा है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि प्राचीन काल मे अनेक महर्षियो ने इसी राजमार्ग द्वारा मुक्ति की साधना की थी। जगद्गुरु शकराचार्य स्वय इसी त्याग-मार्ग के आराधक थे।

इन दोनो पक्षो की ओर से प्रस्तुत तर्कों मे बहुत अशो मे तथ्य अवश्य है, किन्तु इन दोनो आश्रमो मे अमुक उत्तम है, अमुक नही इसकी चर्चा मे उतरना योग्य नही, क्योकि इस प्रश्न का निर्णय तो उस-उस व्यक्ति की योग्यता पर अवलम्बित है, जो व्यक्ति गृहस्थाश्रम के योग्य हो। उसके लिए त्यागमार्ग उच्च होते हुए भी आचरणीय नहीं हो सकता। इसी प्रकार जो व्यक्ति त्यागाश्रम के योग्य हो, उसके लिए वही आश्रम उत्तम माना जा सकता है। तात्पर्य यह है कि दोनो की उत्तमता का निर्णय विवेकबुद्धि द्वारा उस-उस स्थिति पर से होना चाहिए। इसी-लिए शास्त्रकारो ने दोनो आश्रमो मे से किसी को न्यून या उत्तम न कह कर भूमिकाओ का विकासक्रम इस प्रकार बताया है —

'माणुसत्त, सवणे, नाणे य विन्नाणे, पच्चक्खणे य संजमे'।

सबसे पहले मानवता, तत्पश्चात् क्रमश सद्धर्म-श्रवण, विवेक, विज्ञान (विशिष्ट कार्ययुक्त ज्ञान), आवश्यकता कम करने के नियम और त्याग होने चाहिये। इस क्रमिक विकास की भूमिकाओ में त्याग का माहात्म्य सर्वोपरि है, क्योकि जगत् के सभी प्राणी जिस सुख को चाहते है, उसकी प्राप्ति वैभव-विलास से नही हो सकती, किन्तु सतोप, प्रेम, और त्याग से ही सम्भव है।

परन्तु वैभव-विलास के त्याग का अर्थ सिर्फ साधुवेश धारण कर लेना ही नही है। यद्यपि साधुजीवन ऊँचा है मगर जो व्यक्ति मानव-धर्म या गृहस्थधर्म की भूमिका का अधिकारी भी न बना हो, वह त्यागीजीवन का अधिकारी नही बन सकता। उपर्युक्त शास्त्र-कथन का आशय भी यही है कि त्याग के आदर्श का सेवन करते हुए, अपनी-अपनी योग्यता के

अनुसार, उस-उस स्थान के विशिष्ट कर्त्तव्यो का पालन करके, उस-उस भूमिका को पार करते हुए आगे बढा जाय।

इस दृष्टि से और दूसरी तरह से कहे तो गृहस्थाश्रम त्यागाश्रम के स्तम्भ के समान है। यह स्तम्भ जितना अधिक मजबूत होगा, उतना ही त्यागीजीवन का भवन सुव्यवस्थित रूप से चिरस्थायी रहेगा। इसी ध्येय को लेकर 'आदर्श गृहस्थाश्रम' क्या है ? उसके लिए किस सामग्री की आवश्यकता है ? इसको समझाने का प्रयास क्रमश अगले अध्यायो मे किया गया है।

गृहस्थाश्रम का स्थान

राष्ट्रीय दृष्टि से

विभिन्न गावो और शहरो का समूह प्रान्त कहलाता है और विभिन्न प्रान्त मिलकर एक राष्ट्र या एक देश बनता है। जहाँ जनसमूह एक सस्कृति और रहन-सहन के सूत्र मे आबद्ध होकर बसते हो, वह राष्ट्र कहलाता है। राष्ट्र के जन-जन का जनन, पोषण, रक्षण और सवर्द्धन गृहस्थाश्रम से ही होता है, इसलिए राष्ट्रीय दृष्टि से गृहस्थाश्रम का कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है, यह स्पष्ट समझा जा सकता है।

सामाजिक दृष्टि से

समान आचार-विचार से रगे हुए मानव-समूह को 'समाज' कहा जाता है अर्थात् व्यवस्थित और विचार-प्रधान मानव-सगठन को समाज कहा जा सकता है। 'जीवो जीवस्य जीवनम्' यह सूत्र प्राय पशुओ मे प्रचलित है। मनुष्यो मे तो 'जीओ और जीने दो' और इससे भी आगे बढ कर, 'दूसरो को जिलाकर जीओ' तथा 'स्वय मरकर भी दूसरो को जिलाओ' के सूत्रो के अनुसार चलने की वृत्ति और विशेषता मानव-समाज मे लाने के लिए 'सस्था' की जरूरत होती है, क्योकि सस्था के द्वारा निश्चित विचारसरणी के क्रियान्वित होने से व्यक्ति या समाज का निर्माण होता है। भारतीय समाज-चिन्तको ने मूल सिद्धान्तो को सामने रख कर समग्र समाज का निर्माण करने के लिए विभिन्न सस्थाएँ रची हैं। कुटुम्ब, ज्ञाति या मडल भी एक प्रकार की सस्थाएँ हैं व्यक्तिगत जीवन के अच्छे-बुरे कार्यो का प्रभाव सर्वप्रथम इस प्रकार की सस्थाओ पर और बाद मे समाज पर पडता है इसीलिए शरीर को जितनी चेतना-शक्ति की आवश्यकता है, उतनी ही समाज को व्यक्तिगत आदर्श गृहस्था-

श्रम की है। गृहस्थोंका व्यक्तिगत एव सस्थाकीय जीवन जितना उदार, उत्तम और चारित्रशील होगा, उतने ही अशों मे समाज सुखी, शान्त और व्यवस्थित बनेगा।

धार्मिक दृष्टि से

राष्ट्रीय और सामाजिक हित मे गृहस्थाश्रम का हिस्सा है, इसे सभी स्वीकार करते है, किन्तु धार्मिकता मे गृहस्थाश्रम का हिस्सा हो सकता है, इस बारे मे आज एक वर्ग शकाशील है। उसका यह मानना है कि गृहस्थाश्रम यानी पापो का स्थान। पाप यानी अधर्म और जहाँ अधर्म हो, वहाँ धर्म हो ही कैसे सकता है ? और ऐसे गृहस्थाश्रम मे आत्मविकास को स्थान ही कहाँ ?

ऐसी अमुक काल से प्रचलित हुई मान्यता के फलस्वरूप भोला-भाला गृहस्थ अज्ञान वर्ग अपने आपको पापी मान कर अपने पवित्र कर्त्तव्यो से च्युत हो जाता है, क्योकि वह यह मानने लगता है कि गृहस्थाश्रम मे तो पाप ही पाप है और पापो का परिणाम ससार-परिभ्रमण है। फिर जो पापी ही है उसके पाप क्या ? यो मान कर जानते हुए भी दुर्लक्ष रख कर कितने ही अनर्थ गृहस्थाश्रम मे रह कर, कर बैठता है।

गृहस्थाश्रमी की जिम्मेवारी

मगर उपर्युक्त मान्यता बिलकुल निराधार और भ्रममूलक है। गृहस्थाश्रम आत्म-विकास का प्रथम सोपान है। गृहस्थाश्रम मे रह कर भी मनुष्य अहिंसा, सत्य, सयम इत्यादि सद्धर्म के अगो की आराधना करके उच्च कोटि पर पहुँच सकता है। जैन-शास्त्र मे कहा है—

'भिक्खाए वा गिहत्थे वा, सुव्वए गम्मइ दिव'

अर्थात्—मनुष्य त्यागी भिक्षु हो या गृहस्थ हो, 'सुव्रती' हो तो वह स्वर्ग-प्राप्ति का अधिकारी है। गिहीलिंगसिद्ध-गृहस्थवेश मे भी सिद्धि-मुक्ति का अधिकार है। गीता तो पुकार-पुकार कर कहती है—'स्वकर्मणा

तमभ्यर्च्य सिद्धि विंदते मानव' (अपने कर्त्तव्य-कर्म से—धर्म पालन से भगवदाराधन (शुद्ध आत्मा की आराधना) करके मनुष्य सिद्धि(मुक्ति) प्राप्त कर लेता है। शर्त केवल यही है कि सत्कर्म करते समय फल-आसक्ति, अहकार, प्रमाद या अकर्मण्यता न हो। इस प्रकार धार्मिक दृष्टि से गृहस्थाश्रम त्याग-वैराग्य की खान है, नदनवन के समान सभी आश्रमो का विश्रामस्थल है और उच्चकोटि के कुटुम्ब-वात्सल्य से विश्ववात्सल्य-प्राप्ति के ध्येय को लिए हुए है।

लक्ष्य-बिन्दु

आदर्श गृहस्थाश्रम का लक्ष्य भोग-विलास नही अपितु विकास-साधना है। गृहस्थ का ब्रह्मचर्य-खण्डन विकार–वासना की पूर्ति के लिए नही, किन्तु सुन्दरतम सुसस्कारी सतान पैदा करने के लिए होता है। इस कारण ब्रह्मचर्य के इस प्रकार खण्डन मे पाप होते हुए भी वह उसके लिए अधर्म नही है और वह पाप गृहस्थाश्रमी को पीडित नही कर सकता। आदर्श गृहस्थाश्रमी की प्रवृत्ति पर-पीडा के लिए नही होती, अपितु परोपकारार्थ होती है, इससे वह प्रवृत्ति पुण्यकारी बन जाती है।

लेकिन वह गृहस्थाश्रम आदर्श न हो तो नदनवन के बदले नरकागार के समान हो जाता है, यह बात भूलनी नही चाहिए, क्योकि जितने दर्जे गृहस्थाश्रम का स्थान उच्च है, उतनी ही उसकी जिम्मेवारी अधिक है।

विवाह-विचार

वास्तव मे गृहस्थाश्रम का प्रारम्भ विवाहित जीवन के बाद ही होता है। विवाह गृहस्थाश्रम का प्रवेशद्वार है और विवाहित जीवन उसका प्रथम और आवश्यक अग है। इसलिए विवाह के सम्बन्ध मे उसके सभी पहलुओ को लेकर यहाँ हम विचार करेंगे।

विवाह का रहस्यार्थ

वि + वह दोनो से 'विवाह' शब्द बना है, उसका अर्थ है,–गृहस्थाश्रम के कर्त्तव्यो को विशेषरूप से वहन करना, जिम्मेवारी निभाना। इसका पर्यायवाची शब्द 'लग्न' है। उसका अर्थ होता है–'पति-पत्नी दोनो का एक दूसरे से सलग्न होना, मिलना, लीन होना। पति और पत्नी अर्थात् दम्पती के प्रेममय मिलन का नाम ही 'लग्न' है।

भारतीय समाज पर पाश्चात्य विचारो का प्रभाव पडा, तब से युवक-युवती मुक्त-सहचार की आकर्षक बातो से प्रभावित हुए, विवाहित जीवन उन्हे बन्धनरूप प्रतीत होने लगा। कई तो यहाँ तक कह बैठते है—"विवाह-व्यवस्था मानव-जीवन के लिए बिलकुल निरुपयोगी (निकम्मी) है।"

हम इस मान्यता से यहाँ तक सहमत हो सकते है कि जो स्त्री या पुरुष जीवन-पर्यन्त नैष्टिक ब्रह्मचर्यपूर्वक रहना चाहते हो, उनके लिए विवाहित जीवन की आवश्यकता नही है। शास्त्रकारो ने ऐसे वर्ग को विवाहित जीवन के लिए बाध्य नही किया है। परन्तु जो नैष्ठिक ब्रह्मचारी रहना नही चाहते, तथापि विवाह-व्यवस्था को एक प्रकार की परतन्त्रता मान कर, उसका भग करते है वे तो दोनो मार्ग से चूकते हैं, अपना पतन करते है और भावी सन्तान की सस्कृति का भी खून करते है। समाजशास्त्री ऐसी स्वतन्त्रता को सरासर स्वच्छदता का नमूना

मानते हैं, फिर भले ही उसे 'प्रगतिशील-सुधार' जैसा आकर्षक नाम दिया गया हो । इस प्रकार की स्वेच्छाचारिता की हवा पिछले कुछ वर्षों से जोरशोर से फैल रही है । इसके कटु और दुःखद परिणाम व्यक्ति और समाज दोनो को भोगने पडे है और पडते हैं । अत समाज की प्रत्येक इकाई को भारतीय विवाह-पद्धति के आदर्श पर गभीरता से विचार करना नितान्त ज़रूरी है ।

विवाह का आदर्श

गृहस्थाश्रम का आदर्श जितना उच्च और उन्नतिसाधक है, उतना ही उच्च और विकास-साधक आदर्श विवाहजीवन का है । विवाह का आदर्श है—पति और पत्नी दोनो के प्रेम का झरना एक सरितामय बनकर वहना । जिस जीवन से निर्दोष प्रेम का मगलारम्भ हो वही विवाहित-जीवन कहलाता है । इसी से समाजहितैषियो ने इसे उच्चकोटि का जीवन माना है । शास्त्रकारो ने भी कहा है—विवाह केवल पति-पत्नी का देहमिलन (देहलग्न) नही अपितु मनोमिलन और आत्ममिलन है । यह तभी निष्पन्न हो सकता है, जब दम्पती-जीवन मे शिक्षण और सदाचार को सम्पूर्ण स्थान मिला हो और विशुद्ध प्रेम के हेतु से दोनो का विवाह हुआ हो ।

प्राचीन काल मे इस आदर्श को सुरक्षित रखने के लिए युवक और युवती के हितैषी बुजुर्गों पर दोनो की पसदगी का भार डाला गया था, आज भी वही प्रथा प्रचलित है । यद्यपि कही-कही यह भी देखा जाता है कि पुत्र और पुत्री के माता-पिता स्वार्थ या लोभ के वशीभूत होकर अपनी जिम्मेवारी से च्युत होकर, अपनी सतान का भारी अहित करते है । यही कारण है कि भारतीय समाज की विवाह-व्यवस्था पर आज अनेक विचारो के प्रहार हो रहे है, दूसरी ओर से विधवा-विवाह जैसे प्रश्न विचार के रगमच पर आ रहे हैं। मगर गहराई से सोचने पर यह मालूम होता है कि इस सम्बन्ध मे प्राचीन विधि-विधान या विवाह-

व्यवस्था का कोई दोष नही है, इस दोष के लिए जिम्मेवार तो उसका अनुसरण न करने वाले कतिपय अपवादित व्यक्ति ही है।

समाज की प्राचीन या अर्वाचीन किसी भी व्यवस्था मे मानवजाति मे प्रविष्ट होने वाले स्वार्थ आदि दोष के कारण अपवाद अवश्य मिलेगे। ऐसे अपवादो के लिए व्यवस्थित समाज विधान का भग करने का प्रयत्न करने या वैसा विचार करने की अपेक्षा अपवाद के मूल का पता लगाकर उस विधान मे सशोधन-परिवर्द्धन करना जनता के सामूहिक हित की दृष्टि से अधिक उपयुक्त होगा।

सुधार की जरूरत

सुधार की आवश्यकता तो प्रत्येक काल मे होती है। लेकिन आज जीवन-विकास के लिए अनिवार्य और हितकारक नीति-नियमो का प्राचीन होने के कारण भग करने को 'सुधार' माना जाता है, यह ठीक नही। ऐसे सुधार से व्यक्ति और समाज का कोई हित नही होता। अतः कोई भी सुधार सामाजिक जीवन के सर्वांग सरक्षक नियमो को लक्ष्य मे रखकर होना चाहिए। विभिन्न धर्म-शास्त्र और नीति-शास्त्र के अवलोकन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि प्रत्येक युग के विशिष्ट पुरुषो ने ऐसे समाज-हितकर सुधार किये है।

उदाहरणार्थः—एक काल ऐसा था कि एक पुरुष को एक से अधिक पत्नी रखने की छूट दी गई थी, अनेक स्त्रियो के साथ पाणिग्रहण करना सामाजिक अपराध नही समझा जाता था, परन्तु उसके बाद समयानुसार परिवर्तन होते-होते एक पति को एक पत्नी के साथ ही विवाह करना सामाजिक सभ्यता मानी जाने लगी और आज भी वही विधान प्रचलित है। लेकिन समय-समय पर दी गई ऐसी अनुमतियाँ नारी-जीवन के सम्पूर्ण रक्षण और हित की दृष्टि से ही योजित की गई थी, यह भूलना न चाहिये।

मतलब यह है कि समाज-विधान के नियमो पर चलने और उसे

सुदृढ वनाने का समाज के प्रत्येक अग का कर्त्तव्य है, इससे वैयक्तिक स्वातन्त्र्य की हानि नही, अपितु सुरक्षा है ।

मुक्त साहचर्य

अभी-अभी मुक्त-साहचर्य और प्रेमलग्न के आकर्षक नामो से विवाह-व्यवस्था की अराजकता समाज मे फैल रही है, उसके लाभालाभ पर यहा भी विचार कर लेना जरूरी है ।

जो युवतियाँ ब्रह्मचर्यपूर्वक जीवन विताने की इच्छा न होते हुए भी अविवाहित रह कर पुरुषो के साथ मुक्त सहचारपूर्वक जीवन विताना चाहती हैं, और वैसी स्थिति मे स्वतत्र सुखप्राप्ति की आशा रखती है, उनकी दशा कई वार वाजारू स्त्री (वारागना) की अपेक्षा भी हजार-गुनी वदतर हो जाती है । क्योकि मुक्त-साहचर्य मे प्रेमपात्र एक ही हो ऐसी कोई निश्चितता नही होती । इस कारण वे वेचारी प्रेम के वहाने अनेक रूपभ्रमर वासनालोलुपो की शिकार वन जाती है । यौवनकाल मे जिस दुष्परिणाम की उन्हे कल्पना भी नही होती, वैसे असह्य कष्टो का सामना ढलती उम्र मे उन्हे करना पडता है । क्योकि समाज से तो वे पहले से ही पृथक् हो जाती है, वाद मे उनके तथा-कथित प्रेमियो द्वारा भी वे छोड दी जाती है । ऐसी अपमानित और लाञ्छित परिस्थिति मे उनका कोई स्नेही या सरक्षक न होने से वे पश्चात्ताप की भट्टी मे जलती रहती है ।

इसी तरह जो युवक भी इस प्रकार का जीवन विताते है, वे निवीर्य और नि साधन वन कर अपना और समाज का वहुत अहित कर डालते है ।

ऐसी युवतियाँ और युवक अत्याचार, अनाचार, अधर्म, कुव्यसन आदि अनेक अनर्थों से पीडित होते है, उनका माना हुआ स्वच्छदी सुख उन्हे ही ठगता है और वे आजीवन दु ख भोगते रहते है । उनके कारण समाज और राष्ट्र को भी वहुत सहना पडता है । ऐसे युवक-युवतियो के व्यक्तिगत जीवन में विशुद्ध प्रेम का विकास रुक जाने से सुख और

सतोष के बदले तिरस्कार और असतोष ही उनके पल्ले पडते है। अतः ऐसे दुखमय और हानिकारक भविष्य से बचने के लिए पूर्ण ब्रह्मचर्य-पूर्वक न रह सकनेवाले पुरुष को एक स्त्री और स्त्री को एक पुरुष चुनकर विवाहित जीवन बिताना ही हितावह है। इसी मे भावी सतान का भी हित है।

इसीलिए समाजशास्त्री और नीतिकारी ने धार्मिक-दृष्टि से एक पत्नीव्रत की घोषणा की है जो सामाजिक दृष्टि से भी बहुत उपयोगी है। जैन-शास्त्रो ने त्यागमार्ग स्वीकार करने की योग्यता न हो तो उसके लिए गृहस्थजीवन की व्यवस्था भी बताई है और उसमे पति-पत्नी के लिए क्रमश 'स्वदारसतोष' और स्वपतिसतोष को अनिवार्य बताया है।

दाम्पत्य-प्रेम तभी अचल और स्थिर रह सकता है, जब सन्तानोत्पत्ति का ही शुद्ध हेतु विवाहित जीवन के पीछे हो। विवाहसूत्र में शारीरिक सौन्दर्य की कसौटी से युवक-युवती को नही बाधा जाता, अपितु उन दोनो के पारस्परिक गुण-दोष, प्रकृति, उम्र, विद्या, कुल, शील, समानता, शरीर-स्वास्थ्य और जीविका-उपार्जन की योग्यता आदि बाते देखकर बाधा जाता है और वही वास्तव मे 'प्रेमविवाह' है। ऐसे पति-पत्नियो के जीवन विश्वास, सहयोग और स्नेह से ओतप्रोत रहते है।

प्रेम-विवाह

मुक्त-साहचर्य की तरह 'प्रेम-विवाह' का भी एक फैशन आजकल चल पड़ा हैं। इस तथाकथित प्रेम-विवाह मे युवक और युवती दोनों किसी की सलाह लिये विना सिर्फ खुद की पसदगी से विवाह करते हैं। यद्यपि मुक्त सहचार के सिद्धान्त की तरह इस प्रकार के प्रेम-विवाह में विवाह-व्यवस्था का तिरस्कार नही है; परन्तु ऐसी साहसिक विवाह-प्रणाली के अनुसरण करने मे अनेक खतरे है। जवानी मे ऐसे प्रेम-प्रसग वहुधा वासनाजन्य होते है और प्रेम का रग कृत्रिम होने से गृहस्थाश्रम के जीवनकाल में ही वह उड़ जाता है या फीका पड जाता है।

यद्यपि जिन युवक-युवतियो को एक-दूसरे के सहयोग से जीवन-

पर्यन्त गृहस्थाश्रम रूपी गाडी खीचना है, वे राजी-खुशी से परस्पर स्वय अपने योग्यपात्र ढूढ़ ले और विवाहसूत्र मे आवद्ध हो जाँय, यह वुरा नही हैं, तथापि इस उम्र मे युवक-युवती एक-दूसरे के सिर्फ शरीर-सौन्दर्य से आकर्षित होते हैं, एक प्रकार के आवेशवश होते है और परिपक्व उम्र का अनुभवज्ञान भी उन्हे नही होता, इसलिए वे भलीभाति पारस्परिक गुणदोषो का तटस्थ वुद्धि से निरीक्षण नही कर सकते। फलत आगे जाकर ऐसे विवाह निष्फल सावित होते है।

आवेग और मोह से किए गए गृहस्थाश्रम की कसौटी मे वे सांगोपाग पार नही उतर सकते। ज्यो-ज्यो गृहस्थाश्रम की नौका आगे वढती जाती है, त्यो-त्यो ऐसे दम्पती को नये-नये अनुभव होते रहते है, धीरे-धीरे सौंदर्य का आकर्पण क्षीण होता जाता है, पति-पत्नी की महत्त्वाकाक्षाओ के हवाई किले एक के वाद एक ढहते जाते हैं, तव दोनो को अपनी साहसवृत्ति और भूल का भान होता है। परन्तु अव क्या हो ? अव तो वे जीवनयात्रा मे वहुत दूर चले गए होते है। आपस मे मन-मुटाव होने पर भी अव तो गृहस्थाश्रम की सुस्त चलने वाली गाडी सुखसे दु ख से खीचे विना कोई चारा ही नही। ऐसे दम्पती भले ही उस समय समाज को कोसें, परन्तु इसमे न तो समाज के विधान का दोप है और न दूसरे किसी का ही दोष है। दोप है, उनकी अपनी ही वृत्ति का।

वुजुर्गों का कर्त्तव्य

इसी कारण ऐसे भयकर भविष्य से वचने के लिए नीतिकारो ने वर-कन्या के गुणदोष-निरीक्षण का भार अनुभवी वुजुर्गो को सौपा है, क्योकि उन्हे वर-कन्या की उम्र, कुलीनता, योग्यता और सद्गुणादि की परीक्षा करने का पक्का अनुभव होता है।

जो वुजुर्ग नि स्वार्थी और सतति-हितैषी होते हैं, वे अपने इस कर्त्तव्य को भली भाँति समझकर अपनी सतति का गृहस्थ-जीवन सुचारु-

रूप से व्यतीत हो, इस दृष्टि से योग्य जोडी का चुनाव कर देते है। चुनाव होने के बाद अपनी सतान को वे वस्तु-स्थिति से भलीभाँति परिचित कराकर उसकी पक्की सम्मति मिलने पर ही दोनो का विवाह निश्चित करते है। इस व्यवस्था से युवक-युवती दोनो को अपने गृहस्थ-जीवन को स्वर्गोपम और मधुर बनाने का मौका मिलता है और दोनो के जीवन मे सौजन्य और स्नेह की महक अन्त तक फैलती रहती है।

यह खेद का विषय है कि आज का बुजुर्ग-वर्ग इस कर्त्तव्य को कई अशो मे भुला बैठा है, अपने पुत्र-पुत्री को चाहे जिसके साथ जोड देने मे कर्त्तव्य की इति-समाप्ति मान बैठता है या स्वार्थवश अयोग्य कार्य भी कर बैठता है। आज के गृहस्थाश्रम की दुर्दशा मे यह भी एक प्रबल कारण है।

कई बुजुर्ग तो विवाहित जीवन के लिए वरकन्या के गुणदोषो का तो दूर रहा, योग्यायोग्य उम्र तक का भी विचार नही करते। कई पिता अपने स्वार्थ के लिए किसी बूढे, अधेड या बीमार पुरुष के हाथो मे अपनी कोमल कली-सी निर्दोष पुत्री के जीवन को होमने मे जरा भी नही हिचकते। कई पिता तो अपनी पुत्री का विवाह बचपन मे ही कर डालते है या अयोग्य के साथ उसे बाँध देते है।

ऐसे नियम-विरुद्ध तथा अनमेल विवाहो से वे किशोर बालाएँ दाम्पत्य-जीवन के मधुररस से वञ्चित रहती हैं और इन्ही कारणो से प्राय. अबलाओ के आर्त्तनाद और वैधव्य करुण कहानिया पैदा होती है। और तो और, वैधव्य-जीवन को पवित्र और सुरक्षित रखने के उपायो और साधनो की ओर भी ऐसे तथाकथित हितैषी लापरवाही दिखाते है। फलस्वरूप समाज को कलकित करने वाले दुष्ट कृत्यो की एक के बाद एक परम्परा चलती जाती है, जिसे रोकने के लिए विधवा-विवाह या ऐसी ही अन्य प्रवृत्तियो का आन्दोलन चलानेवाला एक वर्ग समाज के खिलाफ खुलेआम तैयार हो जाता है।

समाज के इन सब रोगो को जडमूल से उखाडने के लिए वरकन्या के सरक्षको (अभिभावको) को अपने पवित्र कर्त्तव्य का भान कराने का व्यावहारिक प्रयत्न करना प्रत्येक सच्चे सुधारक का सर्वप्रथम और अनिवार्य कर्त्तव्य है। इस प्रवृत्ति मे विचारबल के साथ कार्यक्षमता की भी अपेक्षा है।

तलाक

तलाक का प्रश्न विवाह के बाद का है। दाम्पत्य-जीवन योग्य होते हुए भी कई जगह शारीरिक आकर्षण की हीनता या वासना की अतृप्ति के कारण एक पत्नी मौजूद होते हुए भी दूसरी पत्नी लाने या तलाक देने की प्रवृत्ति वर्तमानकाल मे अनेक बार होती दिखाई देती है।

ऐसी तलाकप्रथा की हवा प्राय पाश्चात्य-ससर्ग से यहाँ आई मालूम होती है। तथापि भारतवर्ष की प्राचीन समाज-व्यवस्था मे भी पति और पत्नी का सम्मान तथा विवाह-जीवन की व्यवस्था यथार्थरूप से रखने के लिए अति प्रबल कारणो से ऐसी रियायत लेने का उल्लेख स्मृति मे जरूर है। देखिये वह पाठ :—

'नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ।
पचस्वापत्सु नारीणां, पतिरन्यो विधीयते॥'

'पति भाग गया या गुम हो गया हो, मर गया हो, छोड कर या प्रव्रज्या लेकर चला गया हो, नपुसक हो गया हो तो ऐसी पाँच प्रबल आफतो के कारण स्त्रिया दूसरे पति के साथ विवाह कर सकती है।'

परन्तु आज जिस रूप मे यह प्रश्न उपस्थित किया जाता है, उस रूप मे तलाक-प्रथा की छूट गृहस्थाश्रम-सस्था के लिए लेशमात्र भी उपयोगी नही है। इतना ही नही, अनुभव से ज्ञात हुआ है कि यह दाम्पत्य जीवन के निर्मल स्नेह मे विप घोलने वाली है, क्योकि एक पति अपनी प्रणयपात्र पत्नी का और एक पत्नी अपने प्राणप्रिय पति का जब चाहे तब (गले उतर जाय ऐसे प्रबल कारण के बिना भी) त्याग कर सकती

है। ऐसी सार्वदेशिक रियायत भारतीय सस्कृति के लिए बिलकुल अनावश्यक और निकम्मी है। इतना ही नही, बल्कि लज्जाजनक चीज है।

अब तो पाश्चात्य देशो के समाज-हितचिंतक भी ऐसी तलाक-प्रथा की अनावश्यकता को स्वीकार करने लगे है, इससे स्पष्ट है कि यह प्रथा समाज के लिए हितकर नही है। इसीलिए पश्चिम मे, जब-तब तलाक न दिया जा सके, इस प्रकार के कानून बनाकर, तथा पुर्नविवाह पर भारी कर लगाकर, विवाह-जीवन को व्यवस्थित बनाने के प्रयत्न हो रहे है। अत समाज के जिम्मेवार अग्रगण्यो एव लोकनेताओ को ऐसे प्रश्नो पर गभीर विचार करके, इनके कारणों को नेस्तनाबूद करना चाहिए।

तलाक का मूल

तलाक के प्रश्न उपस्थित होने का मूल कारण है—दाम्पत्य प्रेम का अभाव। शुद्ध दाम्पत्यप्रेम को विकारवासना का शैतान रौद डालता है। विलास की अतिमात्रा से विकार को पोषण मिलता है। इसलिए ब्रह्मचर्य और सयम की उपयोगिता सिर्फ धार्मिक दृष्टि से ही नही, सामाजिक दृष्टि से भी पैदा हुई है। अब तो भारतसरकार ने ऐसे कानून बनाए है, अगर समाज उन्हे सच्चे अर्थ मे अपना ले तो ऐसे प्रसग विरले ही पैदा होगे।

संतति-नियमन का सिद्धान्त

विवाहित-जीवन मे आगे बढने पर सतति का प्रश्न सामने आता है, क्योकि 'प्रजायै गृहमेधिनाम्' उत्तम सतानोत्पत्ति के लिए गृहस्थाश्रम मे विवाहजीवन को स्वीकार किया जाता है। परन्तु आज सतति-नियमन का प्रश्न क्यो खडा हुआ है ? यह जानना जरूरी है।

कई लोग ऐसा मानते हैं कि जन-सख्या बढने से राष्ट्र मे बेकारी बढती है, अत जनसख्या-वृद्धि को रोकने के लिए सतति नियमन समाज और राष्ट्र के हित मे आवश्यक है। इस मत मे प्राय विदेशो का प्रभाव है।

भारत की बेकारी

आज भारत की बेकारी दूर करने के लिए कई जिम्मेवार विचारक संतति-निरोध की ओर उँगली उठा रहे हैं, परन्तु यह उपाय बाह्य दृष्टि से जितना सरस और सुन्दर लगता है, उतना ही परिणाम में समाज-जीवन के लिए घातक है। सही माने मे राष्ट्र की बेकारी इस उपाय से दूर नही हो सकती।

सारी सृष्टि में यह कुदरती नियम है कि जो प्राणी जहाँ जन्म लेता है, वहाँ उसकी उत्पत्ति के साथ उसके जीवन के लिए उपयोगी सामग्री का भी सर्जन होता रहता है। बालक के पैदा होते ही उसे हवा कुदरत से मिल जाती है और पानी और खुराक के लिए उसकी माता के स्तनो मे व्यवस्था पहले से हो जाती है, अन्य साधन भी प्राप्त होते रहते हैं।

अर्थशास्त्र की दृष्टि से इस प्रश्न की छानबीन करें तो 'हेनरी जॉर्ज' नामक एक शास्त्री का कहना है—"जनसख्या बढने से जिन्दगी की खुराक कम नही हो जाती। मानवशक्ति के आज दृष्टिगोचर होनेवाले ह्रास एव मानवदुःखो के ढेर के लिए कुदरत के कानून जिम्मेवार नही है। बल्कि ये दुष्परिणाम तो कुदरत के कानूनो पर नही चलने के कारण आते है।"

इस पर से यह स्पष्ट हो जाता है कि राष्ट्र मे फैली हुई बेकारी को दूर करने के लिए सततिनिरोध का प्रचार बिलकुल अवास्तविक है।

संतति का नियमन का ध्येय और परिणाम

अगर सतति-नियमन का उपाय वीर्यरक्षण के शुद्ध लक्ष्य को लेकर अकृत्रिम रूप से आयोजित किया जाता हो तो वह स्वागत योग्य है। आज उसकी आवश्यकता भी है। क्योंकि एक महापुरुष ने बताया है कि "जो सन्तान विकारी भावना से उत्पन्न होती है, वह कभी अपने माता, पिता, कुटुम्ब, समाज या राष्ट्र की सेवा नही कर सकती, उलटे मातृद्रोही, पितृद्रोही, कुटुम्बद्रोही, समाजद्रोही तथा राष्ट्रद्रोही बनती है

और अपना जीवन भी वह स्वार्थ और वासना के भँवरजाल मे गोते खाते-खाते पूरा करती है। मनुस्मृति मे भी स्पष्ट कहा है—

"जायन्ते दुर्विवाहेषु ब्रह्म-कर्मद्विष. सुता" (क० ३-४१)।

विवाहलक्ष्य को भुलाकर या विवाह के पीछे रही हुई पवित्र भावनाओ का लोप करके विकारी वासना से जो सन्तान पैदा की जाती है, वह अधार्मिक ही बनती है। ऐसी पामर सतति पैदा करना भी एक प्रकार का पाप है। इसके विपरीत जो सतान धर्म-भावना और उच्च सस्कार-भावना से पैदा की जाती है, वह सतान अपने कर्त्तव्य का पालन करने के लिए अनेक बलिदान दे सकती है। इसलिए जहाँ-जहाँ विलास और स्वार्थ का साम्राज्य व्याप्त हो, उस वातावरण मे वहाँ वैसी दूषित सतानो मे वृद्धि हो, इसकी अपेक्षा सयम की भावना फैले यह ज्यादा उचित है।

परिणीत दम्पती यदि कायिक ब्रह्मचर्य का भी पालन करेगे तो आज समाज मे जो तत्त्व अल्पमात्रा मे दिखाई देता है, उस स्वास्थ्य-तत्त्व को पुन प्राप्त करके वे अपनी अमूल्य शक्ति का परमार्थ के लिए सद्व्यय कर सकते हैं। प्राचीनकाल मे ऐसी भावना खूब व्यापक थी जिससे जन-जीवन सब प्रकार से सुखी था। ऐसे ब्रह्मचर्य-पालक थोडे से दम्पती भी समाज और राष्ट्र के लिए उपयोगी बनकर जनता के शत-शत आशीर्वाद अवश्य प्राप्त कर सकेंगे।

परन्तु एक ओर कोई विकारवासना को खुल्लमखुल्ला पोषित करता रहे और दूसरी ओर कृत्रिम साधनो या प्रयोगो द्वारा प्रजनन कार्य को रोकने का प्रयत्न करे तो नतीजा यह आता है कि पुरुष-जाति नपुसक बन जाती है और स्त्री-जाति के वात्सल्य और सौजन्य के स्रोत सूख जाते है। फलत राष्ट्रहित के बदले राष्ट्रीय सस्कृति के मूल पर ही कुठाराघात होता है और सस्कृति के नष्ट होने पर मानवजाति मे जीवनसत्त्व नामशेप हो जाता है।

जो विकारवासना को खाने-पीने या मलत्याग की क्रिया की तरह कुदरती आवेग (हाजत) मानते है, वे भी गहरे भ्रम मे हैं। उन्हे समझ लेना चाहिए कि ब्रह्मचर्य अस्वाभाविक या असाध्य वस्तु नही है और खाने-पीने की तरह वासना अनिवार्य क्रिया भी नही है। जैसे अग्नि मे घृत की आहुति देने से वह शान्त होने के बदले बढती ही जाती है, वैसे वासना-प्रवाह को ज्यो-ज्यो मुक्त-रूप से बहाया जाता है, त्यो-त्यो वह शान्त नही होता, बल्कि बढता ही जाता है।

ध्येयशून्य विवाह

इन सब अनिष्टो के पैदा होने का मूल कारण है—ध्येयशून्य विवाह। कदाचित् विचारो मे विवाह का ध्येय उतरा हो, परन्तु आचरण को देखते हुए ऐसा लगता है, मानो विवाह का ध्येय विकार का पोषण ही हो। 'स्त्री केवल भोगविलास की पूर्ति का एक साधन है' ऐसा भ्रम भी समाज मे चल रहा है। इसका नतीजा यह दिखाई देता है कि विवाह होने के बाद जब तक पति-पत्नी दोनो की वासना तृप्त होती रहती है, तब तक ही प्राय: उनका कल्पित प्रेम टिकता है, बाद मे क्रमश क्षीण होता जाता है। दम्पती-जीवन मे एक-दूसरे के लिए, दु ख, कष्ट और आफत मे या बीमारी मे सहने, त्याग करने व सहयोग देने की वृत्ति कम हो जाने से, एकाकारता एव हार्दिकता के दर्शन कम होते हैं। इस गम्भीर और पेचीदा प्रश्न के वास्तविक हल पर ही आदर्श गृहस्थाश्रम के महल की नीव मजबूती से टिकती है।

जब पति और पत्नी सही माने मे यह समझेंगे कि हमारा विवाह विकार-वासना की पूर्ति के लिए नही हुआ है, अपितु साथ मिल कर एक हृदय होकर धर्माचरण करने के लिए, एक दूसरे के सहयोग से वासना और दुर्बलताओ को क्रमश कम करते हुए ब्रह्मचर्य के शिखर पर जाने के लिए हुआ है, सन्तान-प्राप्ति के साथ समाज और कुटुम्ब के ऋण को चुकाने के लिए संतान को सुसस्कारी, धार्मिक, साहसी एव समाज तथा राष्ट्र के लिए उपयोगी बनाने के हेतु हुआ है तभी गृहस्थाश्रम आनन्द-

मय, मगलमय और स्वर्गोपम बनेगा। और तब वैवाहिक जीवन मे फैली हुई सभी अवस्थाएँ दूर होगी। स्त्री और पुरुष दोनो गृहस्थाश्रम रूपी रथ के दो चक्र है, दोनो चक्रो के सम होने पर ही यह सुरथ व्यवस्थित चल सकता है और ये दोनो चक्र तभी सम हो सकते हैं, जब दोनो का शिक्षण, सस्कृतिरक्षण, गृहजीवन, कुटुम्बपालन, धर्मपालन, अर्थव्यवस्था आदि मे सम अधिकार हो। जब से नारीजीवन के प्रति पुरुषवर्ग लापरवाह बना, नारी को अपमानित दशा मे धकेल कर, उसे पैर की जूती या दासी (गुलाम) समझकर उसे वासनातृप्ति का एक साधन माना जाने लगा तभी से गृहस्थाश्रम और परम्परा से राष्ट्र की अधोदशा की शुरूआत हुई और निष्प्राण और निस्तेज सतान पैदा होने लगी है।

वैधव्य जीवन

वैवाहिक जीवन के साथ-साथ विधुर जीवन और वैधव्यजीवन का भी प्रश्न सम्बन्धित है, इसलिए इस पर भी विचार करना अत्यावश्यक है। विदेशो मे जहाँ विभक्त कुटुम्ब प्रथा है, वहा विधुर-जीवन और वह वृद्धावस्था मे बडा ही दु खदायक होता है। भारत मे सयुक्त कुटुम्ब प्रथा होने से यह प्रश्न विधुरो के लिए तो कम ही कष्टप्रद होता है। किंतु भारत मे विधवा बहनो की दशा बडी ही शोचनीय है। बाल्यकाल मे अपने पतिजन्य सुख से वचित एव यावज्जीवन ब्रह्मचर्य-पालन की प्रबल पिपासु त्यागमूर्ति विधवा को देखकर पुरुषवर्ग को अपनी विकारी और विलासी वृत्ति पर शर्म आनी चाहिए। ऐसी विधवा बहनो के प्रति पूज्यभाव रख कर वफादार रहना उनका परम कर्त्तव्य है, उसके बदले विधवा बहनो पर अत्याचार ढहाने वाला समाज का अमुक पुरुषवर्ग सचमुच समाज का कलक है और नारी-हत्या का अपराधी है।

वैधव्य का एक कारण

आकस्मिक कारणो को छोड कर विशेषत वैधव्य का दु ख अपनी सतति के प्रति माता-पिता या अभिभावको के कर्त्तव्यच्युत हो जाने से ही पैदा होता है। बालविवाह, वृद्धविवाह, अनमेल विवाह या अयोग्य

विवाह ही प्राय वैधव्यविषवृक्ष के वीज के कारण हैं। इन्हे जल्दी समाज में से दूर करने चाहिये।

वैधव्य जीवन को सुखद वनाने का उपाय

अभिभावको के द्वारा दृढतापूर्वक सतति के प्रति कर्त्तव्यपालन किये जाने पर भी आकस्मिक कारणो से वैधव्य आ पडे तो उसे सहज और सुखद वनाने के लिए निम्न उपाय समाजहितैषियो को करने चाहिये — (१) उन्हे त्याग और सयम की जीती-जागती प्रतिमा मान कर आदर और सम्मान दिया जाय, (२) उन्हे शिक्षण और सस्कार से सुसज्जित करके योग्य सुविधाएँ देनी चाहिए, (३) उनके कुटुम्बियो को सादगी और सयम के अनुकूल वातावरण रखना चाहिए, (४) वे स्वाभिमान-पूर्वक जी सके, समाज-निर्माण या वाल-शिक्षण का सत्कार्य कर सके, इसलिए उनके मार्ग की कठिनाइयाँ दूर करनी चाहिये, (५) वे अपने ब्रह्मचर्य को सुरक्षित रख सकें, इतनी तेजस्विता पैदा करनी चाहिए; (६) वे किसी के वहकावे मे आकर साम्प्रदायिकता से युक्त वाडो मे फँस कर अपने जीवन की असली स्वतन्त्रता को न खो दे, अपना सर्वांगी विकास अवरुद्ध न कर दें, इसका पूरा ध्यान रखा जाय।

इन्ही उपायो से विधवा वहने स्वेच्छा से अनायास वैधव्य-पालन मे समर्थ हो सकती हैं और ब्रह्मचर्य का प्रभाव समाज और राष्ट्र को वता सकती है। नारीजीवन की उन्नति के लिए सरकार अनेक कानून वना रही है, किन्तु समाज उन कानूनो को दिल से समझ कर, पचाकर अपनाएँ और नारी भी स्वजीवन निर्माण का अवसर पाकर अधिकारो की सुरक्षा कर सके एव प्राप्त स्वतन्त्रता का सदुपयोग कर सके, तभी गृहस्थाश्रम सर्वांगत. सफल हो सकता है।

आदर्श गृहस्थाश्रम

[कर्तव्य खण्ड]

पति-पत्नी के कर्तव्य

गृहस्थाश्रम के मुख्य अंग

गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करना एक महान् जिम्मेवारी अपने पर लेना है, इसी कारण इसे एक प्रकार की दीक्षा कहा जाता है। इस आश्रम का काल भी अन्य आश्रमो की तरह २५ वर्ष का है। परन्तु आज वानप्रस्थाश्रम की प्रणाली लुप्तप्राय: हो जाने से पति-पत्नी को जीवनभर गृहस्थस्थिति मे रहना होता है, अपवाद की बात अलग है। इस दृष्टि से समाज के महत्त्वपूर्ण अग कुटुम्ब मे गृहस्थाश्रम के प्रधान अग पति-पत्नी है। ये कुटुम्ब के आभूषण है। यदि ये दोनो अपने-अपने कर्त्तव्यो को, भलीभाति समझ कर आचरण करें तो उनके जीवन मे सुख की सरिता बहने लगे, और कौटुम्बिक जीवन सुखद और समृद्ध बनने से समाज की भी उन्नति हो।

गृहस्थजीवन की प्रारम्भिक प्रतिज्ञाएं

गृहस्थ-जीवन के उपर्युक्त आदर्श की सुरक्षा के लिए निम्नलिखित प्रतिज्ञाओ और एक दूसरे प्रति कर्त्तव्यो के लिए पति-पत्नी को सतत जागृत रहना चाहिये —

१ पति अपनी पत्नी के सिवाय अन्य स्त्रियो के प्रति मातृदृष्टि रखे और पत्नी अपने पति के सिवाय अन्य पुरुष के प्रति भ्रातृदृष्टि रखे।

२ हम दोनो जीवन-पर्यन्त सहजीवन बिताएँगे, इसलिए उस सह-

जीवन को मधुर और सुखद रखने के लिए हम एक दूसरे की मानव-सुलभ सामान्य भूलो को क्षमा करना सीखेंगे।

३. हम दोनो गृहस्थाश्रम-रथ के समान उपयोगी दो चक्र हैं, इनमे से एक भी कम उपयोगी या निकम्मा नही है। अत हमारे कार्यक्षेत्र भले ही भिन्न रहे, पर हम एक दूसरे के अभिन्न हृदय से पूरक रहेगें।

४ जितनी मात्रा मे पति अपनी पत्नी को हितबुद्धि से कह सकता है, उतनी ही मात्रा मे पत्नी भी अपने पति की भूल होने पर विनीतभाव से हितशिक्षा देने की अधिकारिणी है।

५ पति को उसके योग्य वातो मे सतुष्ट करना जैसे पत्नी का पवित्र कर्त्तव्य है, वैसे ही पत्नी के अन्त करण को भी उसके योग्य बातो मे सतुष्ट करना और सम्मान देना पति का अनिवार्य कर्त्तव्य है।

६ हमारा गृहस्थाश्रम केवल हमारे स्वार्थ की पूर्ति के लिए नही है, अपितु विशेषत कुटुम्ब, समाज और राष्ट्र की उचित और उपयोगी सेवा के लिए है। अत अपना जीवन हम इतना सादा और सयमी वनाएँ कि हमारा जीवन दूसरो के लिए वोझिल नही, किन्तु उपकारक वने।

७ हमारा परस्पर सयोजन (गठजोड) विकार के लिए नही, किंतु स्नेह और सहकार के लिए है। 'सहोभौ चरतां धर्ममिति' इस सूत्र के अनुसार पति-पत्नी दोनो मिलकर, सहचारी वनकर धर्माचरण करें। जिस सहकार से अतिथि-सत्कार, धार्मिक यमनियमो के आचरण तथा इतर प्राणियो की सेवा सरलतापूर्वक हो सके और जीवन का वास्तविक आनन्द प्राप्त कर सकें।

इतनी वातें जान चुकने के वाद और गृहस्थाश्रम के कठोर धर्म के आचरण की योग्यता प्राप्त करने के वाद जो युवक-युवतियाँ गृहस्थाश्रम मे प्रविष्ट होते हैं, उनका गृहजीवन स्वर्गोपम वन जाता है।

आदर्श की ओर एक इशारा

यौवन के सिंहद्वार पर पहुँचते ही युवा-शरीर मे वीर्य उछलने

लगता है, अगर उस समय योग्य दिशा मे मोड न मिले तो वह समुत्पन्न अद्भुत शक्ति विकृति के पथ पर मुड जाती है और जिनके मन ब्रह्मचर्याश्रम मे सुसस्कृत नही होते, वे झटपट इसके शिकार हो जाते हैं।

युवक की अपेक्षा युवती पर इस उम्र का गुप्त रूप से अधिक असर होता है, वह उसकी अगचेष्टा, वाणी और हाव-भाव पर से लक्षित हो जाता है। परन्तु नारीसुलभ लज्जा, सहिष्णुता, धैर्य, कोमलता आदि गुणो के कारण बाह्यरूप से तो क्वचित् ही वह दिखाई देता है। अतः युवक की अपेक्षा युवती की जिम्मेवारी और स्थिति सयम के सम्बन्ध मे अधिक है।

वासना के तूफानी आवेग के अधीन बना हुआ जो युवक विवाह से पहले विकृत वातावरण या कुसग के कारण मार्गभ्रष्ट हो जाता है, उसका विवाहित जीवन कितना कष्टप्रद व शोचनीय बन जाता है, इसका वर्णन कल्पनातीत है। परन्तु जो युवक सुपथ पर टिक सका है और जिसके अन्त करण मे आदर्श गृहस्थाश्रम की महत्त्वाकाक्षा है, वह भी विवाहित होने के बाद गृहस्थाश्रम के प्रारम्भ मे ही दु ख को न्यौता देने की महान् भूल कर बैठता है। उस समय की पारस्परिक तीव्र आसक्ति को भी भ्रान्तिवश 'प्रेम' मान लेते है और दोनो को अपने कर्त्तव्य का भान तक नही रहता। फलत दोनो का प्रेम अखण्ड न रहकर, विकृत बन कर विकारवासना के रूप मे बदल जाता है। उन दोनो के अन्त-करण मे पहले कभी अनुभव की न हो, ऐसी आग धधकती है, जिसका शरीर और मन-पर घातक असर होता है। पुरुष मोहवश स्त्री की वासना को सतुष्ट करने के लिए अपना सत्त्व निचोडने लगता है, इसी प्रकार स्त्री भी पुरुष के पतन का प्रबल साधन बन कर अपना काम कर लेती है। दोनो अपने चेतन को बेच कर मन और वासना के गुलाम बन जाते है तथा अपने अमूल्य स्वास्थ्य और सौन्दर्य को खो बैठते है।

इस समय मदमाते यौवन मे विपरीत मार्ग पर कदम रखने के

दुष्परिणामो के अनुभवी और जीवन की अटपटी घाटियो को पार किये हुए हितैषी अभिभावक उस युगल को जब उनका कर्त्तव्य-भान करने का प्रयत्न करते है तो वे दम्पती यह मान बैठते है कि ये हमारे स्नेह मार्ग मे कॉंटे बिछाते हैं और मधुर दाम्पत्य मे विष घोलते है। फलस्वरूप उनकी हितशिक्षा मानने के बदले वे अपनी भ्रान्त मान्यता के कारण उनका सामना करते है या बलवा करने लगते है।

अनिच्छनीय परिणाम

ऐसी परिस्थिति होने मे दो मुख्य कारण हो सकते है – (१) नये वातावरण मे आने वाली कन्या को उसके माता पिता ने तालीम नही दी होती, (२) पुरुष की आसक्ति गाढ होती है, क्योकि सस्कारपूर्ण लैगिक विज्ञान उसे सिखाया नही जाता तथा समाज की तथाकथित शुद्धि के नाम पर स्त्री-पुरुष के बीच मे भारी कृत्रिम दीवार खडी कर दी जाती है।

फलत एकान्त का लाभ लेकर पत्नी अपने पति के पास हमेशा अपने सास-ससुर, ननंद आदि के दोषो को बढा-चढा कर कहती रहती है। देवर, जेठ आदि कुटुम्बीजनो के साथ रहने मे कठिनाइयो का वर्णन करती है और ऐसी परतत्रता से छुटकारा पाने को बारम्बार आग्रह किया करती है या उत्तेजित करती रहती है। मोहान्ध युवक इनके दुष्परिणामो पर विचार नही करता और शक्ति के मद मे शीघ्र ही अपने स्नेहीजनो के वात्सल्य और प्रेम को ठुकरा कर उनसे दूर रहना पसन्द करता है। अगर वह स्वावलम्बी न हो तो दूसरा कोई मार्ग अपनाता है। ऐसे दु साहस से हुआ कार्य ही प्राय अपने ससार को कटु बनाने में निमित्त बनता है। ढलती उम्र मे इसका भान होने पर उसके वश की बात नही रहती। इस प्रकार के जवानी के नशे से ही प्राय अपने ससार में कुटुम्बकलह का वातावरण पैदा होता है।

परन्तु जिस युवक ने ब्रह्मचर्य का महत्व जान लिया है, जिसका मन बलवान है, जिसे अपने माता-पिता मे सुसस्कार एव परम्परागत

सस्कृति उत्तराधिकार मे प्राप्त हैं, जो अपने हिताहित को समझ सकता है, वह वीर युवक ऐसे नशे के आधीन नही होता, बल्कि उसे वश मे कर लेता है। और अपनी पत्नी को भी सत्य, समझाकर, सुशिक्षा देकर ठिकाने लाता है। कदाचित् अपने माता-पिता या कुटुम्बीजनो के बुरे स्वभाव के कारण घर मे अनबन रहती हो तो उसका मूल कारण ढूढ कर उसे निवारण करने का प्रयास करता है और अपनी पत्नीको सहिष्णु बनाकर गृहस्थाश्रम के महान् कर्त्तव्यो का भान कराता है।

एक भयंकर भ्रम और पतन की परिसीमा

कई बुद्धिमान समझे जाने वाले व्यक्ति भी 'विवाह किया, इसलिए भोग करना चाहिए' इस भ्रम के शिकार बने हुए है। यह मान्यता आदर्श गृहस्थाश्रम के लिए कलकरूप और अतिहानिकारक है। विवाह व्यवस्था विलास और विकार के लिए नही, अपितु सुदृढ और सस्कारी सन्तानोत्पत्ति के शुभ हेतु से बनाई गई है। यही कारण है कि नीतिकारो और स्मृतिकारो ने 'ऋतुकालाभिगामी स्यात्' (ऋतुकाल मे ही स्त्रीसहवास करने) के सिद्धान्त पर जोर दिया है।

इस पर से बाकी समय मे ब्रह्मचर्य ही फलित होता है। अगर पतिपत्नी इस महान् उद्देश्य को लेकर चले तो उनका गृहस्थाश्रम भी सफल और सुखी हो, और उनकी सतान भी वीर्यवान और सयमी बने। कदाचित् युवावस्था मे आवेगवश इसमे स्खलना हो तो तुरन्त सुधारने का लक्ष्य रखें तो बहुत लाभ हो।

ब्रह्मचर्य के खण्डन से सुख मिलने की मान्यता भी अवास्तविक है, क्योकि इसके द्वारा जीवात्मा जिस सुख को प्राप्त करना चाहता है, उसी सुख को गवाता है, वीर्यपात के बाद उसके अन्तर मे गहरा आघात पहुचता है। अतिविकार के कारण शरीर भी रोगिष्ठ बन जाता है और शारीरिक सपत्ति खोने के बाद विषयजन्य सुख का उपभोग अशक्य हो जाता है। और फिर वह व्यक्ति विषय-सेवन का इतना गुलाम बन जाता है कि एक दिन भी उसके बिना बिता नही सकता। ऐसे व्यक्ति

स्वस्त्रीरक्त होने का दावा भले ही करते हो, पर असल मे वे है विषयान्ध ही। क्योकि स्वस्त्री के साथ भी मर्यादित ब्रह्मचर्य-पालन अनिवार्य है। स्त्री तो धर्मपत्नी है, विषय वासना सतुष्टि का यन्त्र नही है, सन्तानोत्पत्ति के शुद्ध हेतु के अलावा सभोग की गणना व्यभिचार में होती है।

यद्यपि कई विषयलोलुप अज्ञान नरभ्रमर, जिन्होने अपने यौवन सत्व की रक्षा नही की है, अपनी दुष्ट लालसा को रोक नही सकते। अत वे एक स्त्री के मौजूद होते हुए भी सतान की इच्छा के बहाने दूसरी स्त्री के साथ शादी करते है, या परस्त्रीगामी बनकर वासना तृप्त करने के लिए अनेक अबलाओ का जीवन भ्रष्ट करके समाजद्रोही बनते है। जिनके पास धन या वैसे साधन नही होते वे पामर चाहे जिस स्त्री की ओर विकारी दृष्टि से ताकते रहते है, किसी भी रूपवती नारी को देखते ही उनकी दबी हुई वासना भडक उठती है और उसकी तृप्ति के सयोग जुटाने को लालायित हो जाते है। ऐसे व्यक्ति अनिच्छा से शारीरिक ब्रह्मचर्य पालते हो, तो भी उन्हे ब्रह्मचारी की कोटि मे नही गिना जा सकता, क्योकि उनके मन और वाणी तो विकारग्रस्त हो चुकते है। कई नरपिशाच तो वासनाग्रस्त होकर कई कोमल बालक-बालिकाओ का जीवन भ्रष्ट कर देते है। वृद्धावस्था मे शरीर और इन्द्रिया शिथिल हो जाने पर भी उनकी वासना का आवेग शिथिल नही होता, विकार उन पर सवार ही रहता है।

पत्नीवाले कई युवक इस कामी वृत्ति के शिकार होकर अपनी पत्नी की गर्भावस्था मे भी वे सयमी नही रह सकते। पत्नी की इच्छा न होने पर इस शैतान के वशीभूत होकर वे बलात्कार करते हैं और अल्पवयस्क पत्नी हो तो भी अत्याचार करते नही चूकते।

भारत मे प्रसवावस्था मे माताओ की मृत्यु होने के अनेक प्रसग, एव दिल दहला देने वाली इतनी विशाल मृत्यु-सख्या सचमुच युवावस्था के विकारो का ही कुफल है।

इस बारे मे अकेले पुरुष ही जिम्मेवार नही, कुछ अशो मे स्त्रिया भी है। वे अत्याचार भले न करती हो पर अत्याचार का शिकार तो बनती ही है, इसलिये वे भी इस माने मे दोषी हैं। अब निरकुश विकार का सामना करने की वृत्ति स्त्रियो मे आती जा रही है, यह देश का सद्भाग्य है।

स्त्रीजाति बहादुर बने

स्त्रीजाति अगर मनोबली बनकर लालच या शिकार के वशीभूत न होकर सात्त्विक वीरता से अपने स्त्रीधर्म की रक्षा करे तो वह अपना भी स्थान सुरक्षित रख सकती है और पुरुष को भी अपने स्थान का भान करा सकती है। अनेक विषयान्ध पामरो की शान ठिकाने लाने के लिए भारतीय नारी-रत्नो ने अपने सतीत्व की रक्षा करते हुए अपना धर्म बजाया है। जेसल-तोरल के ज्वलत उदाहरण के अलावा सती नारियो के अनेक प्रसग इतिहासप्रसिद्ध है। परन्तु स्त्रीजाति को एक सावधानी जरूर रखनी है कि चिरकाल से वह अन्याय-पीडित रही है, इसलिए पुरुषजाति के प्रति द्वेषजन्य प्रतिक्रिया का सहारा लेकर कोई कार्य न करे। नही तो, स्त्रीपुरुष समानता का दुरुपयोग ही होगा।

फैशन : नारीकर्त्तव्य में बाधक

पाश्चात्य सभ्यता के संसर्ग के कारण उसके सद्गुणो की अपेक्षा निकम्मी वस्तुओ या प्रथाओ का अधिक मात्रा मे भारतवासी अनुसरण करने लगे है। पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियो पर इसने अपना अधिक जादू चलाया है। वह है फैशन। चूकि सौन्दर्यवर्द्धन और सौन्दर्य-उपासना पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियो मे विशेष होती है, और उस कृत्रिम सौन्दर्य-प्राप्ति के साथ-साथ वह विलास, नाज़नखरे, आमोद-प्रमोद और नाच-गान आदि मे फस कर अपने कर्त्तव्य से—पत्नीधर्म से—अनेक बार च्युत होती देखी गई है।

वस्तुत सौन्दर्य नैसर्गिक वस्तु है, वह बाहर से प्राप्त होने वाली चीज नही है। शरीर-सौन्दर्य प्राय शारीरिक और मानसिक स्वस्थता

पर निर्भर है। स्वास्थ्य नष्ट होने के वाद सौन्दर्य टिक नही सकता। इस वात को भूल कर कई युवतियाँ जवानी मे अपने शरीर का दुरुपयोग करके, अपने असली सौन्दर्य से हाथ धो वैठती है, तव नकली सौन्दर्य की प्राप्ति के लिए फैशन का अवलम्वन लेकर उसमे ही अपने अमूल्य समय और शक्ति को खोती रहती हैं।

फैशन से हानि

वहुतसी सौन्दर्यलोलुप स्त्रियाँ अपना वहुत-सा समय फैन्सी वस्त्र पहिनने, वाल सँवारने, प्रसाधन-सामग्री जुटाने आदि अनावश्यक टीप-टाप मे व्यर्थ खो देती हैं, साथ ही इन्हे इस फैशन का शौक पूरा करने के लिए अनेक पदार्थो की और उसमे फैशन के रोज-व-रोज वदलते रहने से अद्यतन प्रसाधन-सामग्री की वारवार आवश्यकता पड़ती है, जिसमे हजारो रुपया स्वाहा हो जाता है। इतनी वडी आर्थिक हानि भारत जैसे दरिद्र राष्ट्र के लिए तो असह्य है ही, समाज और कुटुम्व के लिए भी यह अभिशाप है, क्योकि माता-पिता द्वारा किये जाने वाले अनावश्यक खर्च का चेप सतति को भी लगता है, उनका चचल फैशन-परस्त मन विलास और विकृति के मार्ग पर सरपट दौडने लगता है। अत. ऐसी रूढिया, कुप्रथाएँ और आदतें, जो फैशन, देखादेखी या धनमद आदि किसी भी कारण से चल रही हो उन्हे समाज, कुटुम्व और राष्ट्र के हित की दृष्टि से स्त्रियो को अविलम्व वद करनी चाहिए। और अपनी आवश्यकताओ को कम से कम करना चाहिए।

स्त्रियो का धर्म

जहाँ जनता का वहुत वडा वर्ग वेकार हो, अभाव पीडित हो, गरीवी से परेशान हो, वहाँ मौजशोक और ऐशआराम मे या सैरसपाटो मे द्रव्य का दुर्व्यय करना-कराना पाप है।

कदाचित् उन स्त्रियो के पति अपनी पत्नियो की गुड्डी मान कर उन्हे शृगारित करने के लिए चाहे जहाँ से, और चाहे जिस प्रकार से शृगार प्रसावन सामग्री की पूर्ति कर देंगे और उन स्त्रियो की ऐसी इच्छा को

सतुष्ट करके अपनी वासना पूरी कर लेंगे, परन्तु उसका नतीजा बुरा ही होगा। राष्ट्र मे अन्याय और स्वार्थ का आधिपत्य फैलेगा, जिससे वह अधिक कगाल और पामर बन जायगा।

जब पत्निया फैशन के फदे मे न फस कर, व्यसनो और कुरूढियो से दूर रह कर, अपनी आवश्यकताओ को कम कर लेंगी, असली सौंदर्य को सुरक्षित रखने के लिए विषयवृत्ति से मुँह मोड लेंगी, तब कुटुम्ब, समाज और राष्ट्र समृद्ध बनेगा, धर्म और नीति दोनो का सहज विकास होगा, अपने पदभ्रष्ट व धर्मभ्रष्ट होते हुए पतियो को धर्म मे सुस्थिर करने मे वे सफल होगी, उनमे वीरत्व प्रगट होगा। अपना धर्मपत्नीपद वे सार्थक कर सकेगी और फलत॰ स्वय भी शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक सुख का साक्षात्कार कर सकेंगी।

पति-पत्नी के पालने योग्य नियम

मर्यादित ब्रह्मचर्य-पालन के लिए तथा सयम-साधना के लिए निम्न-लिखित नियमो का पालन पति-पत्नी दोनो के लिए आवश्यक है —

(१) ऋतुकाल के अलावा प्राय ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। ब्रह्मचर्य पालन के लिए, 'मेरा मनोबल मजबूत है' इस भरोसे न रह कर शय्या पृथक् रखनी चाहिए। हो सके तो सोने का कमरा या खड भी अलग रखा जाय।

(२) सोते समय सात्त्विक सयम-प्रेरक पुस्तको या जीवन-चरित्रो का वाचन किया जाय अथवा प्रेरणाप्रद जप या प्रार्थना की जाय।

(३) ब्रह्मचर्य-पिपासुओ के लिए शास्त्र मे ब्रह्मचर्यरक्षार्थ ६ वाडें बताई है, उनमे से इन तीन पर तो खूब ही जोर दिया गया है—(१) शरीर-विभूषा (२) कामोत्तेजक चटपटा व दुष्पाच्य भोजन, (३) गाढ एकान्त मे स्त्री-पुरुष का पारस्परिक ससर्ग। इन तीनो से अवश्य बचना चाहिये और सात्त्विक आहार, सादे पोशाक एव शुद्ध वातावरण का सेवन उचित है।

(४) ऐसे उत्तम जीवन के लिए नशीले खानपान का त्याग अत्या-

वश्यक है क्योकि सभी नशीले पदार्थ तामसी वृत्ति की ओर मनुष्य को घसीट ले जाते है। देश की अपार सपत्ति का प्रतिवर्ष इनके पीछे दुर्व्यय होता है, अत आर्थिक और शारीरिक दोनो दृष्टियो से यह हानिकारक है।

(५) कामोत्तेजक, अश्लील, मोहक, गदे एव साम्प्रदायिकतापोषक अश्लील चलचित्रो, नाटको, सिनेमाओ, दृश्यो या अश्लील वातावरण से भी दूर रहना चाहिए। कला के नाम पर कामुकता को उभाडने वाले ये दृश्य, श्रव्य, वाच्य नैतिक जीवन को दूषित करने वाले है।

(६) उच्च भावनावाले जवान स्त्री-पुरुषो को अपने-पति-पत्नी के-सिवाय अन्य स्त्रीपुरुषो के साथ एकान्त ससर्ग और छिपे परिचय प्रसगो से दूर रहना जरूरी है।

इन नियमो का हेतु स्त्रीजाति और पुरुषजाति के बीच भेद, द्वेष या अलगाव पैदा करना नही है, स्त्री-पुरुष की सुयोग्य समानता गृहस्थ-जीवन मे जरूरी है किंतु यह समानता दोनो के अतिससर्ग से ही सिद्ध नही होती, किंतु उदारता और विवेक ही इसकी आधारशिला है। अतिससर्ग से तो दोनो को लाभ के बदले नुकसान ही अधिक आता है।

(७) पति को पत्नी के प्रति और पत्नी को पति के प्रति समानता का अभ्यास करना चाहिये। समानता का अनुभव तभी हो सकता है जब पति एक स्वपत्नी के सिवाय अन्य स्त्रियो को मातृतुल्य देखे और स्त्री पति के अलावा अन्य पुरुषो के प्रति भ्रातृबुद्धि से देखे। समानता की भावना वाला पति अपने गृहमन्दिर को ही स्वर्ग और अपनी पत्नी को ही प्रेम और सुख का केन्द्रस्थान समझता है और पत्नी अपने को अर्द्धांगना मान कर व्यावहारिक बोझ से घबराए हुए, व्यग्र एव बेचैन अपने पति का भार हलका कर देती है, पति के सुख-दु ख मे सहभागिनी बनती है, पति के लिए विश्राम-स्थान बन जाती है।

इन सब नियमो की आदर्श गृहस्थाश्रम मे अनिवार्य उपयोगिता है, क्योकि इन नियमो का यथार्थरूप से पालन करने पर गृहस्थाश्रमी दम्पती स्वर्ग को धरती पर उतार सकते हैं।

संतति के प्रति मातापिता का कर्त्तव्य

आदर्श गृहस्थाश्रम के आराधक सुप्रणयी दम्पती दाम्पत्य-जीवन के फलस्वरूप उत्पन्न हुई सतान मे गर्भाधान से लेकर वयस्क होने तक किस प्रकार के सस्कार डालें तथा सतान के प्रति किस प्रकार का व्यवहार रखे, यह विचार करना जरूरी है, क्योकि सारे समाज की उन्नति का मूलाधार सुसस्कृत सतान है ।

पिता का कर्त्तव्य

गर्भाधान से लेकर प्रसूतिकाल पर्यन्त पत्नीसग करना, पत्नी के प्रति विकारी दृष्टि से देखना या विकारोत्तेजक बातें करना भयकर पाप है, क्योकि बालक जब गर्भ मे आता है तब से उसकी और उसकी माता की नाडी एक ही होती है, माता के श्वासोच्छ्वास से ही गर्भ जीता है इसलिए माता पर होने वाले अच्छे-बुरे प्रभाव उसकी सतान पर शीघ्र ही दिखाई देते है । जिस सतति के माता-पिता ऐसे समय मे अपनी बुरी वासना को नही रोक सकते, उनकी सतान रोगिष्ठ, पगु, और विकारी बनती है । ऐसे माता-पिता अपने पवित्र नाम को डूबा कर धर्म-माता और धर्मपिता के बदले सतति-सहारक कहलाते है जो माता-पिता अपने इस कर्त्तव्य को चूक कर भविष्य मे अपनी सतान की ओर से सद्भावना या सेवा की आशा रखते है वे नीम का बीज बोकर आम का फल पाने की इच्छा रखने वाले मूर्खो की कोटि मे है ।

गर्भावस्था के समय गैरजिम्मेवार बने हुए पुरुषो की वासना के कारण ही स्त्रियो मे अनेक रोग फूट निकलते है । २५ प्रतिशत माताएँ तो प्रसवकाल मे ही मृत्यु की शरण हो जाती है, बाकी की जो जीती हैं, वे शक्तिहीन, नि सत्व और निस्तेज होकर अपनी जिन्दगी पूरी करती है । प्रदर, हिस्टीरिया, क्षय आदि प्राणघातक रोगो से घिरी रहती है,

फिर शक्तिवर्द्धक टॉनिक या अभक्ष्य-अपेय कॉडलिवर ऑइल, माल्ट आदि दवाओ का सेवन करती रहती हैं जिनमे धन और धर्म दोनो की वली दे दी जाती है। एक वार गया हुआ स्वास्थ्य फिर हाथ नही आता और दो चार वालको की माता वनने के वाद तो वह शिथिलांगी, कृशागी वुढियासी दिखने लगती है। प्रसवपीडा से बचने के लिये या खोये हुए स्वास्थ्य को पुन प्राप्त करने के लिए कई स्त्रियाँ कृत्रिम सततिनिरोध का आश्रय लेती हैं, पर इससे रोग का मूल नष्ट नही होता। विषय-वासना तो कम नही होती, फिर चिर स्वास्थ्य कैसे प्राप्त हो सकता है ? इसलिए ब्रह्मचर्यपूर्वक सततिनियमन ही इसके लिए रामवाण दवा है। जिस सतति के माता-पिता वालक दूध पीना न छोड दे तव तक या ३-४ वर्ष के होने तक ब्रह्मचर्य पालन करते है, उनकी सतति सुन्दर, सयमी, संस्कारी, स्वस्थ और वलिष्ठ होती है।

वालक के जीवन के प्रथम ६ वर्ष सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं। इस समय दरम्यान दूसरी सतान का वोझ माता-पिता पर आ पडे तो वे प्रथम सतान के प्रति पूरा ध्यान नही दे सकते। इसका कुप्रभाव भावी सतान के जीवन पर पड़े विना नही रहता। अधिक जिम्मेवारी का वोझ माता-पिता से सहन न होने से वे चिडचिडे वन जाते है और वालक की भावनाओ और विकास-ऊर्मियो को कुचल देते है।

माता भी कम जिम्मेदार नही

ऐसी परिस्थिति मे सतान की माता भी कम जिम्मेदार नही। उसे ऐसे पति को सद्वोध द्वारा अपने पवित्र कर्त्तव्य का भान कराना चाहिए। इतने से न माने तो सत्याग्रह करके भी उसे अपने पति को ठिकाने लाने का प्रयत्न करना चाहिये। जीवन की सहचारिणी के नाते पद-भ्रष्ट पति की कर्त्तव्य-च्युतता के समय अगर वह इतनी भी नैतिक हिम्मत नही वता सकती और पति की वासनामय वृत्ति के अधीन हो जाती है तो वह स्वय भी अत्याचारी पति की तरह गुनहगार वनती है और सतान की माता नही, पर हत्यारी वनती है ! पति की खोटी वासना

तृप्त करने मे, पतिभक्ति नही पतिमोह है।

गर्भाधान के बाद माता के पालने योग्य नियम

(१) मन और वाणी से भी ब्रह्मचर्य-भावना का प्रभाव जारी रहे, इसके लिए उच्च और पवित्र वातावरण मे रहना।

(२) सतियो के जीवन-चरित्र पढना या सुनना।

(३) व्यर्थ की निन्दा, चुगली या फालतू बाते करना या सुनना नही।

(४) कुत्सित (विकार-वर्द्धक) दृश्य न देखना।

(५) अपना समय लडाई-झगडो मे बर्बाद न करके नवीन उपयोगी शिक्षा प्राप्त करने मे बिताना।

गर्भावस्था की प्रत्येक क्रिया का प्रभाव अव्यक्तरूप से बालक पर पडता है। अभिमन्यु को गर्भ मे ही षट-चक्रव्यूह-भेदन का ज्ञान अपनी माता की वृत्ति से ही हुआ था। इतना ही नही, आज भी यह देखा जाता है कि माता गर्भावस्था मे जैसे विचार करती है, जो सुनती, देखती, बोलती या प्रवृत्ति करती है, वैसी ही प्रकृति की उसकी सतान बनती है। उस समय अगर माता लापरवाह रहती है तो उसकी सतान सस्कारहीन बनने से सारा दुष्परिणाम उसे ही भोगना पड़ता है।

दोहद पूर्ति

गर्भवती स्त्री को दो हृदय होने से विभिन्न प्रकार की उत्कट इच्छाएँ या भोजन-रुचियाँ पैदा होती है, उसे सस्कृत मे 'दोहद' कहते है, हिन्दी मे 'दोहला' कहते है।

जो बहने सुशील और सस्कारी होती है, उन्हे धार्मिक बातें सुनने, दान देने, सत्कार्यादि करने, प्राकृतिक दृश्य देखने, सुमधुर भोजन करने आदि की उत्तम रुचि पैदा होती है। ऐसी उत्तम रुचियो को परिपूर्ण करना उनके पति, सास-सुसर या बुजुर्गों का कर्त्तव्य है। अन्यथा उत्तम

इच्छाओ की अपूर्ति के कारण उनके अतर मे दुःख पैदा होने से सतान को हानि पहुँचने का अदेशा है।

परन्तु कई बहनो को मिट्टी या राख खाने की, निरर्थक बातें करने या निरुपयोगी वस्तु देखने-सुनने की अथवा खट्टा, तीखा या चरपरा खाने की भी इच्छा होती है। ऐसी इच्छाएँ प्राय. आसपास के खराब वातावरण, हल्के दर्जे की स्त्रियो के ससर्ग या शरीर मे पोषक खाद्य-द्रव्यो की कमी के कारण पैदा होती हैं। समझदार माताओ को ऐसी इच्छाओ को स्वय सयमपूर्वक दवा देनी चाहिए या उपचार करना चाहिए, अन्यथा अपनी सतान पर कुसस्कारो का प्रभाव पड जाने का डर है।

खान-पान और रहन-सहन

गर्भस्थ-जीव की तन्दुरुस्तीका आधार माता के-खान-पान और रहन-सहन पर है। इसलिए गर्भवती माता को अधिक मिर्च-मसालो वाले, अत्यत तीखे, खट्टे, कसायले या खारे खाद्य पदार्थ नही सेवन करने चाहिएँ, किन्तु सादा, सात्त्विक और परिमित भोजन लेना चाहिए। तथा चलने-फिरने आदि की क्रिया भी गर्भ को तकलीफ न हो, अशक्ति न आजाय, यह देख-सोच कर करनी चाहिए।

बुजुर्गों के प्रति

ऐसे प्रसग पर गर्भवती बहन के बुजुर्गों और खासकर उसकी सासुओ का अनिवार्य कर्त्तव्य है कि वे अपनी बहू को अतिश्रम वाला काम न करने दें, अधिक उठने-बैठने की क्रिया न कराएँ, और उसे आघात पहुँचे इस प्रकार की कोई भी बातचीत या व्यवहार न करें, उसे विशेष सुखशान्ति मे रखने का प्रयत्न करें। गृहकार्य की सत्ता प्राय सासुओ के हाथ मे होती है, इसलिए कई सासुएँ गर्भवती बहुओ से अपनी स्वार्थ-पूर्ति के हेतु अत्यधिक श्रमजनक और कष्टदायक काम लेती है। नतीजा यह आता है कि बहुओ की तन्दुरुस्ती गिरती जाती है, जिसका प्रभाव उनकी संतान पर भी पड़ता है।

प्रसवकाल मे सावधानी

आजकल जगह-जगह शफाखानो मे या जहाँ अलग प्रसूतिगृह होते हैं, वहा अद्यतन साधन-सुविधाएँ उपलब्ध होती है, स्वच्छता भी रखी जाती है। अनाडी दाइयो से प्रसव कराने मे बडा खतरा है, परन्तु साथ ही कई दफा यह देखा गया है कि देशी दाइयो जितना भी नर्सो मे परिपक्व व्यावहारिक ज्ञान न होने के कारण गर्भ और गर्भवती दोनो को काफी सहना पडा है। अत आज के नये प्रसूतिविज्ञान के शरीरशास्त्र और स्वच्छता व्यवस्था आदि के विचार और पुरातन प्रसूतिकारिणियो के अनुभव दोनो का अध्ययन करके भारतीय परिस्थिति और सस्कृति के अनुकूल प्रसूतिविज्ञान मे सशोधन किया जाकर तदनुरूप समन्वयात्मक प्रशिक्षण दिया जाना जरूरी है।

आज की शहरी स्त्री मे इतनी निर्बलता है कि उसमे प्रसवपीडा सहन करने की शक्ति प्राय नष्ट हो गई है, जबकि तन्दुरुस्त ग्रामीण-नारिया प्राचीनकाल की तरह आज भी यह कष्ट आसानी से सह सकती हैं, क्योकि उनका शरीर ताकतवर होता है। अत माता बननेवाली प्रत्येक नारी को अपना शरीर स्वस्थ व सशक्त रखने, एव योग्य आहार-विहार व रहन-सहन का ज्ञान होना चाहिये। साथ ही प्रसवकाल के समय माता और बालक को पर्याप्त पोषक खाद्य एव अनुकूल वातावरण की व्यवस्था समाज और सरकार की ओर से की जानी लाजिमी है, क्योकि बालक राष्ट्र का धन है, समाज की थाती है।

निर्बलता के कारण

स्त्रियो मे दुर्बलता आने का मुख्य कारण तो समुचित व्यायाम का अभाव है। प्राचीनकाल मे कूटने-पीसने, बिलोने, पानी भरकर लाने, दूहने, पशुपालन करने आदि प्रत्येक क्रियाओ से शरीर के प्राय सभी अगोपागों की कसरत हो जाती थी। सतत कार्य करते रहने से भोजन का पाचन अनायास हो जाता था और प्रत्येक अवयव अभ्यस्त हो जाता था। साथ ही हवा, पानी और आहार ऐसे कुदरती व्यायामो

से सात्त्विक और शुद्ध मिलते थे, जिससे शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य सुरक्षित रहता था। आज हाथ से काम करना छोड देनेवाली स्त्रियो को मदाग्नि, गैस, रक्तचाप, स्नायुदौर्वल्य, हृदयपीडा, क्षय, कब्ज, अतिसार आदि अनेक भयकर रोगो ने घेर रखा है, जिससे उन्हे आर्थिक और शारीरिक दृष्टियो से अतीव हानि सहनी पडती है। फिर अनेक चाय, काफी आदि राष्ट्रघातक व्यसन भी पुरुपससर्ग से उनके जीवन मे लग चुके है। दूसरे अनेक छोटे-वडे व्यसनो को छोड दे, तो भी शारीरिक, आर्थिक, राष्ट्रीय और धार्मिक चारो दृष्टियो से हानिकारक चाय जैसी वस्तु जहाँ देखो वहाँ वहनोमे फैल गई है। स्वय पीती है। इसलिए वालक की भी जन्मघुटी मे चाय पिलाकर उसकी आयु को घटाने की पाशविक क्रिया करती है, ऐसा कहने मे कोई अत्युक्ति न होगी।

शिशुपालन के ज्ञान का अभाव

छोटे-से वालक की जरासी आँख दुखने लगी या सिर मे दर्द हुआ, दस्ते लगने लगी कि उसकी माँ कहेगी-'वुलाओ डॉक्टर को', यह शिशु-पालनज्ञान के अभाव का सूचक है। पुराने जमाने मे घर मे अनुभवी वूढी दादी घरेलू वैद्यक का ज्ञान रखती थी, अव नई पीढी ने उस ज्ञान की उपेक्षा करदी है। उसका कटुफल वालको को भोगना पडता है, उन्हे डॉक्टरो की शरण मे सौंप कर, दवा पिलाकर, और इजेक्शन लगवाकर शुरू से ही दुर्वल वना दिया जाता है। इस दु ख से वचने के लिए माता वनने वाली प्रत्येक वहन को घरेलू औपधियो का ज्ञान प्राप्त करने की अत्यत आवश्यकता है।

नन्हे शिशुओ के प्रति

वालक जहाँ तक स्तनपान करना न छोड दे वहाँ तक माता को अपनी प्रत्येक क्रिया मे सयम और विवेक रखना चाहिये और स्तनपान के साथ-साथ उच्च सस्कारपान भी कराना चाहिये। इस समय वालक का अपनी माँ के साथ इतना तादाम्य होता है कि वह अपनी माँ के सिवा

और किसी को नही पहिचानता, अत माता उसके कानो मे मधुर और धर्मपुनीत वचन भरे।

कई बालको के नाक मे से लीट व मुह से लार टपकती रहती है; आँखो और कानो मे मैल जमा रहता है, ऐसे बालको को खिलाने या पास बिठाने का किसी का मन नही होता, इसमे उसकी माता की असस्कारिता और अस्वच्छता वृत्ति के दर्शन होते है। समझदार माता को बालक के प्रति ऐसी लापरवाही से दूर रहना चाहिये।

बालक रोता हो या सोता न हो तो कई माताएँ उसे 'चुप रह,वह बाबा आया, हौआ आया, कान काट लेगा, सो जा नही तो बिल्ली खा जायगी', इत्यादि भयदायक वाक्यो से बालक मे भयवृत्ति पैदा कर देती है, जो जिन्दगी भर तक नही जाती। कई माताएँ बालक मे रोने की आदत डाल देती है। भारतीय माताओ को अपने बालक डरपोक या कायर न बनाकर शूरवीर और निर्भय बनाने चाहिए। कहा भी है—

'जननी जणे तो भक्त जण, कां दाता कां शूर।
नहीं तो रहजे बांझडी, मती गमाजे नूर॥'

जो माता शिशुसगोपन के ज्ञान से रिक्त है, वह सारे समाज और राष्ट्र का द्रोह करती है। सिर्फ सतानोत्पत्ति से ही माता-पिता के कर्त्तव्य की इति-समाप्ति नही हो जाती, कर्त्तव्य का मुख्य श्रीगणेश तो बालक के पैदा होने के बाद होता है।

बालशिक्षण

बालक के ६ साल के होने से पहले तक उसकी शिक्षादीक्षा और सस्कार का सारा भार माता के ऊपर है। इसी उम्र मे भरे हुए सुसस्कार आजीवन स्थायी होते हैं। अत इस उम्र तक प्रतिक्षण मातापिता को जागृत रहना चाहिए। उसके बाद बालक को योग्य शिक्षक के हाथ मे सौंपना चाहिए। शिक्षक का चुनाव उसके चारित्र, परिपक्व अनुभव और वात्सल्य पर से करना चाहिए। शिक्षको के हाथ मे सौंप देने पर भी

माता-पिता बालक के देख-भाल की जिम्मेवारी से कभी छूट नहीं सकते।

शिक्षा कैसी हो ? उसका क्रम क्या हो ?

शिक्षा ऐसी होनी चाहिए, जिसका जीवन-व्यवहार से अभिन्न सम्बन्ध हो, जिससे बौद्धिक विकास के साथ-साथ शारीरिक और मानसिक विकास भी हो। यानी जिसमें बुद्धि के साथ-साथ धर्म के सस्कार भी जागृत हो, और हाथपैर भी काम करते रहें। म० गाधीजी ने 'नई तालीम' की व्याख्या मे राष्ट्र को इसी प्रकार की बुनियादी शिक्षा की ओर इशारा किया है। इसके लिए व्यस्क होने तक बालक को इतना ज्ञान तो अवश्य मिलना चाहिए —

(१) मातृभाषा का गहरा अध्ययन एव राष्ट्रभाषा का परिपक्व ज्ञान। (२)अपनी रुचि के अनुसार कृषि, वाणिज्य या अन्य उद्योग-जैसे सुथारकाम, लुहारकाम, बुनाई-रगाई आदि मे से एक का तलस्पर्शी ज्ञान, जिससे भविष्य मे स्वावलम्बनपूर्वक अपनी आजीविका चला सके। (३) देश की परिस्थिति और उसके प्रति अपने कर्त्तव्य का बोध। (४) राष्ट्रीय और आन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो और प्रवाहो का परिचय। (५) अपने राष्ट्र की राजनीति के मुख्य विषयो का ज्ञान। (६)—देश और विश्व की महाविभूतियो की जीवनियो का ज्ञान। (७) जगत् के मुख्य-मुख्य धर्मो—जैसे जैन, बौद्ध, वैदिक, ईसाई, इस्लाम, पारसी, यहूदी, आदि—का रहस्य, उनकी उत्पत्ति और उसके सस्थापको के उद्देश्य का समन्वयात्मक ज्ञान। (८) साहित्य, विज्ञान और सगीत आदि कलाओ का अध्ययन। साहित्य, विज्ञान और संगीतादि कलाएँ तभी उपयोगी होगी, जब उनसे रागवृत्ति के बदले सच्ची रसवृत्ति पैदा होकर उनका उपयोग स्वपरहितमे किया जायेगा। जिससे शृ गारिकवृत्ति-कामुक वृत्ति पैदा हो, वह साहित्य व कला और जिससे प्राणिसहार होता हो, प्राणियो के सत्त्व का ह्रास होता हो, वह विज्ञान निकम्मे है।

बालक-बालिकाओं की शिक्षाप्रणाली ।

स्त्री और पुरुष की शरीर-रचना मे जितना नैसर्गिक अतर है, उतना ही उनकी प्रकृति मे भी प्राय. अन्तर देखा जाता है। स्त्रियो मे पुरुषो की अपेक्षा श्रद्धा, सरलता सहिष्णुता और सेवा इत्यादि गुण विशेषमात्रा मे होते हैं, पुरुषो मे दृढता, साहस, कठोरता, हिम्मत आदि गुण विशेष-मात्रा मे पाए जाते है। यही कारण है कि समाज के मानसशास्त्रियो ने इन दोनो अगो के स्वतत्र और समान होते हुए भी विभिन्न कार्यों मे उनकी पृथक् पृथक नियुक्ति की है, इस दृष्टि से उनके शिक्षण मे भी आगे जाकर पृथक्-पृथक् दिशाएँ होनी चाहिए। यद्यपि कितना ही व्यवहार समानरूप से उन्हे रखना पडता है। अत स्त्री-पुरुष दोनो की प्राथमिक शिक्षा समान हो और उसके लिए छोटी उम्र तक दोनो का सहशिक्षण हो, यह स्वाभाविक है।

परन्तु आज समाज मे जिस प्रश्न की काफी चर्चा है, वह है कॉलेज मे सहशिक्षण की। मुझे लगता है वयस्क युवकयुवतियो का अमर्यादित, अनियत्रित रूप से साथ-साथ रहना नैतिक दृष्टि से हानिकारक है ही, नारीजीवन की उपयोगिता की दृष्टि से भी ऐसा शिक्षण अधिक आव-श्यक नही है।

परिणाम

कॉलेज की शिक्षा प्राप्त कर लेने के बाद शायद वह कन्या आगे जाकर वकील, डॉक्टर शिक्षिका या बैरिस्टर बने, किन्तु आखिर उसे विवाह तो करना ही पडेगा, विवाहित हो जाने के बाद उसका कार्यक्षेत्र स्वा-भाविकरूप से ही बदल जायेगा। कदाचित् वह अपने पूर्वनिर्धारित कार्यक्षेत्र मे नैतिक हिम्मत रख कर डटी रहे, फिर भी नारी के लिए अकेली उक्त दिशा की शिक्षा से काम नही चलेगा। पतिप्रेम, सततिपालन, गृहव्यवस्था इत्यादि कार्य तो उसके लिए अनिवार्य रहेगे ही।

दूसरे देशो की पद्धति, रीतिरिवाज, वातावरण और परिस्थिति के

कारण कदाचित् वहा की ऐसी शिक्षा स्त्रियो के लिए उपयोगी साबित होती हो, जैसे रूस मे सतानोत्पत्ति के बाद उसके पालन का कार्यभार माता-पिता पर नही रहता, बचपन से वयस्क होने तक वहाँ की सरकार ही उसका भार उठाती है और उसकी सभी व्यवस्था कर देती है। परन्तु भारतीय सस्कृति और मनुष्य के सहज विकास की दृष्टि से यह भारत के अनुरूप नही है। भारत मे चारित्र्य ही जीवन है। प्रेम, स्नेह और सेवा उस जीवनवृक्ष के रसीले फल है। इनका रसास्वादन करने मे भारतीय नारियाँ अपना सौभाग्य समझती हैं।

थोडी देर के लिए मान लें कि आज के समाज का पुनर्निर्माण हो और स्त्री-पुरुष दोनो को एक ही कार्य मे नियुक्त किया जाय, फिर भी ऐसा सुशिक्षितवर्ग विरला ही निकलेगा। फिर ९९ प्रतिशत स्त्रियो को माता बनना है तो तदनुरूप ज्ञान तो उन्हे प्राप्त होना ही चाहिए। यद्यपि पुरुष की अपेक्षा स्त्री किसी तरह नीची नही है। दोनो का दर्जा बराबर है और पुरुष की तरह स्त्री को भी शिक्षण प्राप्त करने का पूर्ण अधिकार है, तथापि स्वराज्य-प्राप्ति के बाद अब सामाजिक उत्थान और आर्थिक स्वावलम्बन की दिशा मे उसे महत्त्वपूर्ण हिस्सा अदा करना है, यह न भूले।

नारीजीवन में उपयोगी कलाएँ

कई माता-पिता 'लड़की को कहा नौकरी करने जाना है या हुडियाँ लिखनी है कि उसे पढाया जाय!' ऐसा कह कर कन्या-शिक्षण के प्रति लापरवाह रहते हैं, कन्या को अक्षरज्ञान से वचित रखते हैं। यह मान्यता नारीजीवन के विकास मे महान् अवरोधक है। इसका दु खमय फल बाद मे उन्हें और कन्या को भी भोगना पडता है। अत लडकी को महिलोपयोगी प्रत्येक कला और विद्या सीखनी चाहिए।

गृहस्थधर्म की दृष्टि से लडकी को अक्षरज्ञान के अलावा पाक-कला, बालपालन, घरेलू वैद्यक, सिलाई, कढाई, कताई तथा गोपालन आदि तमाम गृहोद्योगो का ज्ञान सहज साध्य होना चाहिये।

इन उद्योगो और कलाओ का ज्ञान होने से वह भविष्य मे अपने गृहस्थाश्रम को भी सुखमय बना सकेगी, कदाचित् वैधव्यजीवन बिताना पडे तो भी वह स्वावलम्बी बनकर सुख से बिता सकती है।

दाम्पत्य जीवन के सुख साधनो मे मनोरजन हेतु सगीतादि कलाओ की आवश्यकता जरूर है, पर है सीमित उद्देश्यपूर्ति तक ही। इस कला के विकास के लिए समाज मे गरबा, रास आदि पद्धतियाँ प्रचलित थी।

परन्तु अत्यन्त बारीर और मर्यादाहीन स्वाग सजकर पुरुषो के साथ क्लबो या कलामन्दिरो मे नाटचादि प्रयोग करना, पाश्चात्य सस्कृति के अनुकूल भले ही हो, भारतीय सस्कृति के तो बिलकुल नही है। ऐसा करना कला का भौडा भद्दा प्रदर्शन है, जो सस्कृति-विघातक है व स्वपर-हिताय (सत्य के लिए) नही है।

बालक की संगति कैसी हो ?

बालको का अधिकाश समय घर मे बीतता है, इसलिए बालक के सस्कार चारित्र्य निर्माण पर, घर और पडौस के वातावरण का बहुत असर पडता है। अत इसकी जाँचपडताल माता-पिता को करते रहना चाहिये कि हमारे बालक किन बालको के साथ खेलते है ? उन बालको के माता-पिता की खासियत कैसी है ? हल्के सस्कारो वाले बच्चे के साथ खेलने से या अतिससर्ग से अच्छे बालक भी प्राय बिगड जाते है, उनमे कई ऐसी कुटेवे पड जाती है, जो जिंदगी-भर नही छूटती। जैसे झूठी बीडी पीना, परस्पर गालीगलौज या मारामारी करना, अश्लील कुचेष्टाएँ करना आदि बुरी आदते कुसगति से ही बालक मे पडती है। इसीलिए सुसगति की ओर ध्यान देना चाहिए।

सच्चा धन सुसंस्कार

सस्कारिता और शिक्षण ही सच्चा धन है, जिसे कोई छीन नही सकता। जो माता-पिता अपने बालको को ऐसे शाश्वत धन देने के प्रति लापरवाह बन कर बालक के लिए धातु के सिक्को का सचय करते है,

और यह मानते है कि इससे बालक सुखी होंगे, सचमुच वे बहुत बडे भ्रम मे हैं। अपनी सतानो के हाथ मे सचित धन देने से अक्सर वे दु खी होते हैं इससे उनके वैभवविलास मूर्खता और मद मे वृद्धि होती है और फलत भाई-भाई परस्पर लड़कर सम्पत्ति, प्रेम व शरीर तीनो को खोते है और अनेक दुर्गुणो के भाजन बन कर कुल को कलकित करते हैं। यह अनुभवसिद्ध बात है।

इसके विपरीत सम्कार-सचय करने से धन-सचय की तृष्णा से उत्पन्न होने वाले अनेक पाप, राष्ट्र द्रोह और बीमारियो का अन्त आ जायगा और भूख से पीडित माताके पुत्रो के प्रति वे सहयोगी बन कर कर्त्तव्य पालन कर सकेंगे।

परन्तु सस्कार प्रदान करने मे माता-पिता को बहुत ही फूंक-फूंक कर चलना होगा। बालको को गाली देना, उनके सामने झगडा, उन पर अत्यधिक गुस्से होना, उन्हे मारना-पीटना, उन्हे चिडाना या किसी वस्तु का लोभ बताकर काम लेना या डराना, उनके सामने किसी भी प्रकार की दाम्पत्य-क्रीडा करना, बालको को सुसस्कारी के बदले कुसस्कारी बनाना है।

अत. बालकों मे सद्‌गुण, सदाचार और अच्छी आदतो का सस्कार-धन प्रदान करना माता-पिता का परम कर्त्तव्य है

बालक की शारीरिक शक्ति के लिए

कई बेसमझ माता-पिता अपने बालको को हृष्टपुष्ट बनाने के लिहाज से दुष्पाच्य, गरिष्ट या तामसी भोजन ठूंस-ठूंस कर खिलाया करते है, और वे इसे सतानप्रेम मानते है, परन्तु यह भयकर भूल है। बालको को स्वस्थ रखने और सशक्त बनाने के लिए सात्त्विक, सुपाच्य और सादा आहार देना चाहिए। साथ ही उन्हे व्यायाम की तालीम भी देनी चाहिए, जिसमे मानसिक, बौद्धिक और शारीरिक शक्ति विकसित हो।

बालिकाओं के प्रति

बालिकाओ को तो गृहकार्य मे निपुण बनाना चाहिए ताकि उन्हे अनायास व्यायाम और स्वास्थ्य लाभ के साथ-साथ गृहोद्योगो का ज्ञान मिले तथा आर्थिक दृष्टि से भी फायदा हो। साथ ही बालिकाओ को माताएँ विशेषत उत्तम प्रकार के सस्कारो का शिक्षण दें यह जरूरी है, क्योकि पुत्र तो पुरुषजाति का होने से सदा स्वतन्त्र जीवन बिता सकता है, किन्तु पुत्री को तो विवाहित होने के बाद अपने श्वसुरगृह मे रहना पडता है। अत पुत्री सुसस्कृत हो तो वह सहिष्णु, उदार और सुन्दर जीवन बिताकर अपने गृहस्थाश्रम को आदर्श बना सकती हैं।

कई माता-पिता अपने पुत्र-पुत्रियो के प्रति असमानता की भावना रखते है और तदनुसार व्यवहार भी करते है, यह भारतीय सस्कृति के लिए कलकरूप है। पुत्रजन्म होने पर खुशिया मनाई जाती है और पुत्री-जन्म होने ही घर मे उदासीनता छा जाती है। इस भेदभाव के पीछे यह क्षुद्र स्वार्थवृत्ति काम करती है कि 'पुत्र तो धनोपार्जन करके देता है, जबकि पुत्री को तो धन देना पडता है, पुत्र घर मे रहनेवाला है, जबकि पुत्री पराये घर जानेवाली है।' इस प्रकार की मनोदशा उच्च सस्कार के लिए बाधक है। आजकल के पुत्रो के बारे मे माता-पिता का अनुभव विपरीत है, क्योकि बहुत से पुत्र तो विवाहित होने के बाद समझ आने पर माता-पिता से अलग होजाते हैं पर पुत्रियाँ कष्ट के समय पूरी वफा-दारीपूर्वक माता-पिता की सेवा करती है।

संतान के विवाह के बारे में

आदर्श माता-पिता अपने पुत्र-पुत्रियो को उत्तम सस्कार और शिक्षण से सुसम्पन्न करके उनकी विवाहयोग्य उम्र होने पर, उनके योग्य पात्र देखकर, उनकी सम्मति लेकर गृहस्थाश्रम मे जोडते है। यदि पुत्र-पुत्री की इच्छा पूर्ण ब्रह्मचर्यपालन करने की हो तो उन्हे तदनुकूल मार्ग की

सुविधा कर देते है। सामान्यतः पुत्र की २५ वर्ष की और पुत्री की १६ वर्ष की उम्र विवाहयोग्य मानी जाती है। इससे कुछ अधिक उम्र हो तो भी चल सकता है, क्योकि इतनी परिपक्व उम्र होने पर ही गृहस्थाश्रम का भार वहन करने की क्षमता और पारस्परिक हिताहित का ज्ञान उनमे आता है। परन्तु खेद है कि समाज मे इस परिपाटी का भग होना दिखाई देता है।

कई उच्च घरानो मे तो यह खासियत होती है कि बालक-बालिकाओ की अज्ञानावस्था मे ही बचपन मे सगाई कर देते है, कई तो शादी भी कर देते है। यहातक कि कई माता-पिता तो खानदान लडका देखकर कच्ची उम्र मे ही अपनी लडकी की शादी कर देते है, कई बार तो भ्रान्तिवश अपनी पुत्री की अपेक्षा कम उम्र के लडके के साथ विवाह सम्बन्ध जोड देते है। यह भी एक प्रकार का अनमेल विवाह है। नीतिकारो और शरीरशास्त्रकारो ने लडके-लडकी की विवाहयोग्य उम्र मे ७-८ साल का अन्तर शरीरशास्त्र एव मानवशास्त्र की दृष्टि से ही रखा है। देखिये सुश्रुत का वह पाठ :—

"पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान्नारी तु षोडशे।
समत्वागतवीर्यौ तौ जानीयात् कुशलो भिषक्॥"

पुरुष पच्चीसवे वर्ष मे और स्त्रियाँ सोलहवें वर्ष मे समानवीर्य होते है, ऐसा कुशल वैद्य समझे।

छोटी उम्र मे शादी कर देने से निम्नलिखित हानियाँ होती है —

(१) पति-पत्नी मे उम्र का जो अतर रहना चाहिये, वह नही रहता, फलत दोनो की जोड़ी बराबर नही होती, और उनसे उत्पन्न होनेवाली सतान कुरूप और निर्बल होती है। (२) उम्र की असमानता से उनमे प्रकृति का मेल नही खाता। (३) अज्ञानदशा मे हुए विवाह के कारण दाम्पत्य-प्रेम का प्रवाह समरूप नही रहता। (४) बाल्यवय मे ही स्त्री पर वैधव्यदु:ख आ पड़ने की सभावना रहती है।

ऐसे बालविवाहो और अनमेलविवाहो मे माता-पिता दोनो जिम्मेवार है, क्योकि वह यह चाहती है कि मेरे घर मे जल्दी-से-जल्दी बहू आ जाय, पिता यह मानता है कि लडके की जितनी जल्दी शादी करदूँ उतनी ही जल्दी कर्ज से मुक्त बनू। पर यह मनोदशा पुत्र-पुत्री के भावी जीवन के लिये अतिघातक है।

वृद्धविवाह तो माता-पिता की अत्यन्त स्वार्थवृत्ति का परिचायक है। इसके दुष्परिणाम के नमूने के रूप मे एक ओर विधवा बहने साक्षी है, दूसरी ओर आए दिन बहनो द्वारा होने वाले अग्निस्नान, कूप-समर्पण आदि अश्राव्य बाते है। समाज की भयकर दुर्दशा करने वाली और अबलाओ मे हाहाकार मचानेवाली ऐसी कुप्रथाओ का शीघ्रातिशीघ्र काला मुह करना चाहिए और अपनी पुत्री की यथोचित सम्मति मिलने पर ही उसका विवाह करने की सोचना चाहिए।

कन्या-विक्रय और वर-विक्रय

ये दोनो कुप्रथाएँ विवाह से सम्बन्धित है। इसलिए माता-पिता को इस बारे मे खूब सतर्क रहना चाहिए और किसी भी रूप मे इन कुप्रथाओं का स्पर्श न होने देना चाहिये। जो माता-पिता अपनी सतान को पैदा करके बेचते है, वे पशु से भी अधम है, उनमे सतान के प्रति वात्सल्य की एक बूद भी नही है। अहिसक और सभ्य समझे जानेवाले कुटुम्बो मे ये कुप्रथाए तो सचमुच निर्दयता की पराकाष्ठा ही है।

कन्या-विक्रय और वर-विक्रय इन दोनो कुप्रथाओ मे नारी-जाति का घोर अपमान और हिसा है। मनुस्मृतिकार कहते है :—

'गृण्हश्छुल्क हि लोभेन स्यान्नरोऽपत्यविक्रयी।'

जो मनुष्य अपनी सतान का विक्रय करता है, थोडा-सा भी धन लेता है, वह अपनी सतान का व्यापार करने वाला अधम गिना जाता है।

कन्या-विक्रय करने वाले माता-पिता भले ही विपत्ति के खातिर ऐसा करते हो,—अधर्मी हैं, क्योकि मानव-धर्म की कसौटी आपत्काल मे ही तो होती है। कन्या-विक्रय करनेवाले पहले अपनी आत्मा को वेचते है, क्योकि प्रेम आत्मा का स्वरूप है। अन्त.करण मे प्रेमरस सूख जाता है तभी आत्मस्वरूपघातक यह निर्दय कार्य होता है। जो माता सुशील होती है वह अपने पति को ऐसे समय मे अच्छे विचार सुझा कर कर्त्तव्य मे दृढकरती है। परन्तु अफसोस है कि कई वार स्वय माता ही गहने, धन या वस्त्र आदि के क्षुद्र प्रलोभन या स्वार्थ मे फँस कर ऐसे दुष्ट-कार्य मे सम्मत हो जाती है। यदि माता सम्मत न हो तो अवश्य ही यह कार्य रुक सकता है। परन्तु अज्ञान और स्वार्था-न्धतावश ऐसी नारियाँ ही अपनी नारी-जाति की दुर्दशा करने मे कारण वनती है। स्वार्थान्ध माता-पिता अपनी कन्या का अयोग्य वर के साथ गठजोड करने मे नही चूकते, और कहते यह सुने जाते है, 'कन्या और गाय, जहाँ दे वहाँ जाय।' कन्या की भावी कष्टकथा एव अन्तर्वेदना के पाप मे ऐसे ही माता-पिता हिस्सेदार वनते हैं। चार कारणो से कन्या-विक्रय होता है—(१) पिता कर्जदार हो, (२) पहले अच्छी स्थिति मे हो और वाद मे निर्धन हो चुका हो, (३) वेकार होने से सामाजिक कुरूढियो प्रीतिभोज, दहेज आदि के पालन मे विवश हो, (४) अपने पुत्र का विवाह करने के लिए पुत्री के पैसे लेता है। अत समझदार माता-पिता को अपना कर्त्तव्य समझकर कन्या को कुछ-न-कुछ देते रहना चाहिये।

आजकल तो कन्या-विक्रय की अपेक्षा वर-विक्रय वहुत जोरो से चलता है। जिस समाज मे कन्याएँ अधिक सख्या मे हो, वहाँ ऐसी कुप्रथा प्रचलित होती है। इस कुप्रथा के फलस्वरूप पुरुष एक पर दूसरी और तीसरी स्त्री लाते नही शरमाता। फिर सौतो मे परस्पर डाह, कलह, द्वेष आदि दुर्गुण वढते है। इससे स्त्रीजाति का अध पतन होता है। आज-कल तो पढे-लिखे लडके हो तो उनकी कीमत वहुत वढ जाती है, लडके के माता-पिता लडकी के पिता से तिलक, वीटी, आदि के रूप मे लडके

की पढाई का विदेश जाने का खर्च या, रेडियो सेट, स्कूटर, घडी, सोना या नकद रकम आदि मागा करते है, लडका भी इसमे सहमत होता है। इस प्रकार मुहमागे भाव मे लडका विकता है। इस मुफ्तखोरी और नीचता की भी कोई हद है! प्राय: उच्च मानी जानी वाली कौमो मे यह कुप्रथाएँ घर की हुई है। ज्ञातिपच मिष्ट भोजन या धन की थैलियो से लुब्ध होकर सरेआम होने वाले, ऐसे गुनाहो के प्रति आख-मिचौनी करते है। धीरे-धीरे ऐसे गुनाहो की सख्या बढती जाती है, तब ये घातक कुप्रथाएँ पच जाती हैं, इन्हे छोडने का मन ही नही होता। सचमुच समाज और समाज के अगुआ ऐसे पापो के लिए अधिक जिम्मेवार हैं। ऐसी घोर कुप्रथाओ को उखाडने के लिए युवक-युवतियो को प्रतिक्षण तैयार रहना चाहिए।

विवाह के समय पोशाक, गीत आदि के बारे में

विवाह के समय समाज मे विभिन्न जातियो मे अलग-अलग नाना प्रथाएँ है, उनमे कई प्रथाएँ तो अत्यन्त घातक है। समाज मे दु ख और वैषम्य पैदा करने वाली है। माता-पिता के कर्त्तव्य से सम्बद्ध होने से यहाँ उनमे से कुछ पर विचार करना अत्यावश्यक है—

समाज या जाति मे सब एक सरीखी हैसियत के नही होते, किन्तु जाति मे अपनी प्रतिष्ठा तो सभी वरकरार रखना चाहते है। धनिक लोग तो उसके लिये हजारो रुपये विना किसी प्रकार का आगे-पीछे का विचार किए फूक देते है और जाति या समाज मे प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेते है, परन्तु निर्धन व्यक्ति कन्या-विक्रय या वृद्ध के साथ कन्या का गठजोड करके या अनीति से द्रव्य कमाकर इसकी पूर्ति करता है और अपनी प्रतिष्ठा वरकरार रखता है। भले ही उसकी हैसियत न हो, विवाह के समय कीमती पोशाक वर-वधू या अमुक सम्वन्धियो को धारण करना ही चाहिये, इसके विना अपना पोजीशन अच्छा नही दीखेगा, और फिर तुर्रा यह कि दुलहिन के लिए २५-२५ जोडी कीमती कपडे हो तभी शोभा है।

ऐसे पापमूलक रिवाजो से समाज रसातल मे चला जाता है। फैशनेबल और वारीक, अधिक न चलने वाले इन खर्चीले वस्त्रो मे कितनी हिंसा और कितनी आर्थिक कठिनाई है ? इनकी सिलाई के पीछे ही वहुत-सा द्रव्य वर्वाद किया जाता है ? इसमे कौन-सी शोभा है ? कुछ समझ मे नही आता ।

इसके अतिरिक्त गहनो के पीछे भी वहुत वडा खर्च किया जाता है। आजकल तो अद्यतन फैशन के गहनो की घडाई मे धातु की कीमत की अपेक्षा ज्यादा खर्च होता है, फिर वेचने जाए तो आधे दाम भी नही मिलते । आभूषणो को स्त्रीधन मानकर, उसके सुखदु ख के लिए उन्हे सुरक्षित रखा जाता था, वह उद्देश्य आज भुला दिया गया है । वह आजकल के गहनो से पूर्ण भी नही होता । कई निर्धन कुटुम्बो को तो किसी से गहने-कपडे उधार लाकर या भाडे पर लाकर इस रूढि को पोसना पडता है । गहनो से ही शोभा है, यह वस्तु आज अविश्वसनीय और युगवाह्य हो गई है । उलटे, कईवार तो गहने स्त्रियो की जान को जोखिम मे डालनेवाले वन जाते है । समझदार और सम्पन्न माता-पिताओ का कर्त्तव्य है कि वे इस कुरूढि को तोडे और अपनी पुत्रियो को सुसस्कारो और सद्‌गुणो के आभूषणो से सुसज्जित करें, जिससे समाज मे धन के वदले सद्‌गुण की प्रतिष्ठा हो, निर्धनो को भी समाज मे वाइज्जत सद्‌गुण वढाने का मौका मिले और आर्थिक दृष्टि से समाज समृद्ध वने ।

विवाह प्रसग पर गाए जाने वाले गीत सुमधुर, कर्णप्रिय, शिक्षाप्रद और सद्‌गुणवर्द्धक होने चाहिये । अश्लील गीतो से या अश्लील विनोद से वालको के कोमल मानस पर वुरे सस्कार जम जाते है, वातावरण भी भद्दा और शृ गारयुक्त वन जाता है यह समाज की सस्कारिता मे वाधक है ।

विवाह विधि

जिस विधि के द्वारा गृहस्थाश्रम के कर्त्तव्यो का निर्देश और दम्पति

में पारस्परिक प्रतिज्ञाएँ ली जाती है, उसे विवाह-विधि कहते है। प्राचीन काल मे इस विधि का अत्यधिक महत्त्व था, यह सप्तपदा के मत्रो और प्रतिज्ञा-सूत्रो से स्पष्ट परिलक्षित होता है। आजकल तो ऐसी पवित्र और उपयोगी विवाहविधि **'समोर्त शुभलग्न आरोग्यं, शुभं भवतु। समो वरते सावधान!'** इस प्रकार के मत्रो को अशुद्ध, अस्पष्ट और अर्थ समझे-समझाए बिना ही बोलकर अपढ या अर्ध-विदग्ध जोशी महाराज द्वारा जैसे-तैसे पूरी की जाती है। विवाहविधि प्रायः रात को चलती है, बारह एक बजे तक। लग्नमण्डप मे बैठे हुए वर-वधू नीद के झोको के साथ इन सब क्रियाओ को निरुत्साहपूर्वक पूरी करते है। कन्यापक्ष के लोगो को भी अरुचि से ही इस सारी क्रिया मे जुटना पडता है, क्योकि वे सारे दिन के कार्यों से थककर चूर-चूर हो जाते है, फिर यह निरस विधि!

साथ ही दुल्हे की सासू भी प्रतीक रूप मे कई चीजें (मूसल, तकुआ आदि) बताकर जाती है उसके रहस्यार्थ को वह स्वय भी नही समझती तो उसके दामाद को तो पता ही कैसे हो?

समाज के प्रभावशाली माने जाने वाले अगुआ लोगो को लड्डू खाने मे और बरातियो को खासी बडी बरात लेकर जाने और कन्या के अभिभावको को कष्ट मे डालने मे जितनी दिलचस्पी होती है, उतनी दिलचस्पी अगर गृहस्थाश्रम-प्रवेश के इस मगलकार्य की विधि व सज्ञात्मक चिह्नो के पीछे रही हुई प्रेरणा एव बोध स्वय समझकर दम्पती को सम्पूर्णत रहस्य के साथ समझाने मे हो तो गृहस्थाश्रम मे पद-पद पर आनेवाली विडम्बनाएँ अनायास हल हो जाय।

विवाह-प्रसग पर थोडे-से मनुष्य, सादगी और एक समय का प्रीति-भोज तथा दो या तीन घन्टे मे किसी अच्छे, प्रौढ विद्वान् एव गृहस्थाश्रम के अनुभवी से शान्तिपूर्वक सार्थ विवाहविधि का आयोजन किया जाय तो ऐसे अवसरो पर व्यर्थ खर्चे जाने वाले बहुत से समय और धन की

रक्षा हो और विवाह मे धाधली के वदले आदर्शता आए ।

कन्या को ससुराल जाते समय सीख

जो कन्या सोलह-सत्तरह वर्ष तक कुटुम्व के स्नेहमय वातावरण मे पली है, जिसने माता का वात्सल्य, पिता का लाड और भाइयो के मीठे स्नेह सस्मरण का स्वर्गीय आनन्द लूटा है, अपनी प्रेमल सखी सहेलियो के साथ जो हँसी, खेली कूदी है, उसे उन सवके आनन्द को छोडकर और जन्मभूमि की ममतामयी गोद को छोड़कर अजाने, अननुभूत और अपरिचित वातावरण मे अपने को फिट करना पडता है, तव उसकी मानसिक स्थिति कितनी करुण, कितनी वेदनापूर्ण होती है ! इस दृश्य की कल्पना सचमुच कवियो के लिए भी अगम्य है ।

ऐसे प्रसग मे माता का हृदय विदीर्ण होता है ! उसकी आँख मे प्रेमाश्रु वहने लगते है । हृदय गद्‌गद् हो जाता है, वाचा अवरुद्ध हो जाती है । इसी समय उसके वात्सल्य की कसौटी होती है—विदाई की सीख के रूप मे ! फिर भी अपने जलते हृदय को कर्त्तव्यजल से उपशान्त करके पुत्री के स्नेहाश्रुओ को पोछती और गोद मे लेती वात्सल्यमयी माता जव विदाई की शिक्षा देती है, उस समय 'जननीनी जोड सखि ! नही जडे रे लोल' वाली वोटादकर कवि की काव्यपक्ति का दृश्य साकार हो जाता है । उस समय मातृहृदय 'अभिज्ञान शाकुन्तल' के श्लोक द्वारा अपनी हितशिक्षा व्यक्त करता है —

'शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने,
भर्तुर्विप्रकृताऽपि रोषणतया मास्म प्रतीपं गम ।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी,
यान्त्येव गृहिणीपदं युवतयो वामा कुलस्याधयः ॥'

वेटी ! सासु, ससुर और वुजुर्गों की भक्तिपूर्वक सेवा करना । उनके स्वभाव या दुर्गुणो की ओर नही देखना । तेरी देवरानी, जिठानी आदि के साथ सहेली की तरह प्रेमल व्यवहार करना । पतिप्रेम की प्रतिक्षण

आकाक्षा करना, स्वप्नमे भी उसके साथ रोष न करना और न उसके रोप का निमित्त बनना। तेरे आश्रित रहने वाले लोगो पर अमृतदृष्टि रखना, उन पर दया करना। दाम्पत्य-जीवन मे पति के सुख-दु ख मे सहभागिनी बनना। वस्त्र, आभूषण और खानपान का मोह न करना। गरीबी मे शोक और अमीरी मे हर्ष न करना। इतनी योग्यता तुझे गृहिणी पद के योग्य बनाएगी। जो युवतियाँ इसके अनुसार नही चल सकती, वे गृहिणी पद के योग्य नही है।"

माता की यह अन्तिम हितशिक्षा दाम्पत्यप्रेम का मधुर आशीर्वाद है। जो माता ऐसे उद्गार प्रगट करती है, उसकी पुत्री का गृहस्थाश्रम भी वैसा सुन्दर बनता है।

ऐसी सासुएँ अपने दामाद को भी पुत्रवत् मानती है और उसके हित के लिए सदा जागृत रहती है। अपनी पुत्री के गुण-दोषो को खुले हृदय से उसके आगे प्रस्तुत करके उसका मार्ग सरल बना देती है।

कई माताएँ इस कर्त्तव्य को नही समझती, वे बचपन से ही अपनी लडकियो मे हल्के सस्कार डालती है। "बेटी! अच्छा-अच्छा खाना, अच्छे-अच्छे कपडा पहनना, गहनो से शरीर को सजाना, पति भले ही गरीब हो या बेकार हो" ऐसे सस्कारो से युक्त लडकी अपने ससुराल मे जाकर स्वय भी सुखी नही हो सकती, दूसरो को भी सुखी नही कर सकती, उसकी दृष्टि स्वार्थ की ओर ही रहती है। इससे वह छोटी छोटी बातो मे देवरानी, जिठानी सासु आदि के साथ लडती-झगडती रहती है। फिर ऐसी क्रोधी और तुनुकमिजाजी लडकियो को पीहर मे जो माताएँ आश्रय देकर, उत्तेजित करती है, उनका पक्ष लेती है, वे अपनी पुत्रियो के मधुर गृहससार मे जहर घोलती है। ऐसी माताएँ शत्रु का कार्य करती है। अत हितैषी माता को प्रारम्भ से ही अपनी पुत्री के सच्चे हित के लिए दीर्घदृष्टि से अच्छे सस्कार और शिक्षण देने का प्रयत्न करना चाहिए।

विवाह के वाद

इस प्रकार वयस्क होने पर पुत्र-पुत्री की विवाहादि क्रिया निपट जाने के वाद उनके माता-पिता अपनी जिम्मेवारी से वहुत अशो मे मुक्त होते है। यद्यपि पिता की हित वुद्धि और माता की विमल वात्सल्य-गगा तो जीवन भर पुत्र-पुत्री पर वहती रहेगी ही, वह कभी सूखेगी नही, परन्तु कार्य की जिम्मेवारी का वोझ तो उन पर से जरूरी उतर जाता है।

पुत्री के अपने ससुराल चले जाने के वाद अपने पीहर मे कभी-कभी उत्सव, त्योहार, या सुख-दु खद प्रसग पर आगमन होता है। फिर भी उसका पितृगृह का प्रेम तो अखण्ड रहता है। लडकी जव-जव अपने पीहर आए तव उसे सुख-दु ख आदि के प्रश्न पूछ कर उसके दु ख दूर करने, उसकी सामाजिक-आर्थिक कठिनाई को मिटाने का प्रयत्न करना चाहिए। श्वसुरपक्ष के साथ सुमेल रखाना, सासु-ससुर आदि की सेवा करने, उनके सुख दु ख मे भाग लेने आदि की शुभ शिक्षा देनी चाहिए। कन्या का जीवन पुत्र की अपेक्षा दयनीय होने से उसके जीवन की देखभाल रख कर उसे सुखी वनाने का माता-पिता का कर्त्तव्य अन्त तक है।

पुत्र के वयस्क हो जाने पर उसके साथ माता-पिता को मित्रवत् व्यवहार करना चाहिए, ऐसा मनुस्मृति मे विधान है। वयस्क पुत्र की सम्मति प्रत्येक कार्य मे लेनी चाहिए। उसकी सम्मति लेने से उसका हृदय प्रेमल और प्रफुल्ल रहता है। कदाचित उम्र के अनुपात से उसके विचारो के साथ थोडा अन्तर हो तो उसके विचार सुनना और दीर्घदृष्टि से विचार करने के वाद ग्राह्य हो उन्हे ग्रहण करना और ठीक न हो तो उन्हे सुधा-रने के लिए मधुर शिक्षा देनी चाहिये किंतु उसके विचारो का तिरस्कार न करना चाहिए। तिरस्कार करने से तो उसका दिल दुखेगा और प्रेम मे क्षति पहुँचेगी। उसके सत्कार्य और सद्विचार मे सहयोग देकर उसका उत्साह वढाना लेकिन रोडा न अटकाना चाहिए। अगर वह व्यवहार से

अनभिज्ञ हो तो अपना व्यावहारिक अनुभव बता कर प्रेमपूर्वक उसके जीवन विकास मे सहायक बनना पिता का कर्त्तव्य है। माता का वात्सल्य तो सदा पुत्र पर अखण्ड ही रहता है। फिर भी अधिक पुत्र हो तो सब पर समान प्रेम रखना चाहिए। अगर किसी की भूल होती हो तो मातृ-हृदय के योग्य उचित मार्गदर्शन करना भी माता का कर्त्तव्य है। ऐसे व्यवहार से जीवन के अन्त तक सारा कुटुम्ब स्नेहामृत और सस्कारसुधा से परिपूर्ण रहता है और वह वातावरण कई पडौसी कुटुम्बोके लिए भी अनुकरणीय बन जाता है।

पुत्र का माता-पिता के प्रति कर्त्तव्य

अपने ससुराल जाने के बाद पुत्री का कर्त्तव्यक्षेत्र विभक्त हो जाता है, उसे विशेष कर्तव्य अपने पति, सासु, ससुर, ननद, देवर, जेठ, देवरानी जिठानी, आदि के प्रति बजाना पडता है। इससे माता-पिता के प्रति उसका कर्त्तव्य क्षेत्र सहज ही परिमित हो जाता है। और सामान्य कर्त्तव्य जो अपने माता पिता के प्रति होने चाहिये, वे तो उसमे स्वाभाविक रूप से रहते ही है।। परन्तु पुत्र के वयस्क हो जाने पर जितने अश मे उसके माता-पिता कर्त्तव्य मुक्त होते है, उतने ही अश मे पुत्र का अपने माता-पिता के प्रति नवीन कर्त्तव्य क्षेत्र प्रारम्भ होता है। परन्तु अधिकाशत यह देखा जाता है कि पुत्र के पत्नी आते ही वह माता-पिता को घर से निकालने या उनकी अवहेलना करके उनसे अलग होने अथवा उनकी आज्ञा न मानने का प्रयत्न करता है। पुत्र की यह कर्त्तव्य-भ्रष्टता माता-पिता के अन्त करण को अतीव व्यथित करती है। वर्षो तक अनेक तकलीफें उठाकर जिन माता-पिता ने अपने पुत्र की ओर से अब शान्ति और निवृत्ति की आशा रखी हो, उनके प्रति पुत्र की ऐसी क्षुद्र वृत्ति से उनकी आशाओ पर तुषारापात हो जाता है।

ऐसे भग्न हृदय माता-पिताओ के अभिशाप या अन्तर की आहे जिस पुत्र पर बरसती है, वह भले ही धन सम्पन्न हो, किंतु उसके अन्तर के किसी कोने मे इस अकार्य का गहरा दु ख अवश्य पैदा होता है। जिसे मिटाने के लिए बाहर की अन्य सामग्री निरर्थक साबित होती है।

कई पुत्र तो अपने माता-पिता का भरण-पोषण करने तक के लिए भी तैयार नही होते। अगर कोई दूसरा करता है तो उनकी ओर

तिरस्कार की दृष्टि से देखते है। उन अशक्त और वयोवृद्ध माता-पिता को निवृत्ति और सतोष देने के बदले उनके दिल मे क्लेश और सताप उत्पन्न करते है, उनके बूते से बाहर उनसे श्रम करवाते हैं।

कई कुलीन कहे जाने वाले पुत्र तो माता-पिता के भरण पोषण के लिए परस्पर भाई-भाई लडते है, उन्हे अलग रखते है, खर्च देने के लिए आनाकानी करते है। कई जगह तो दो भाई हो तो उनमे से एक माँ का भरणपोपण करता है और एक पिताजी का। इस तरह बटवारा कर लेते है।

अपने मौज, शौक और ऐशोआराम के पीछे हजारो लाखो का धुआ उडा देने वाले सपूतो को अपने माता-पिता का भरणपोपण करना खटके या भारी पडे, यह स्वार्थान्धता की पराकाष्ठा और अधमता की परि-सीमा है। इस प्रकार के कार्य से मानवता का महान ह्रास है।

माता-पिता की सेवा के संस्मरण

"ऊढो गर्भ. प्रसवसमये सोढमत्युग्रशूलं,
पथ्याहारै स्वपनविधिभिः स्तन्यपानप्रयत्नैः।
बिष्टामूत्रप्रभृतिमलिनै· कष्टमासाद्य सद्य-
स्त्रात. पुत्र कथमपि यया, स्तूयतां सैव माता॥

नीतिशास्त्र के इस श्लोक मे मातृ-सेवा कितनी बेजोड होती है, उसका दिग्दर्शन कराया गया है। गर्भ मे आने से लेकर वयस्क होने तक बालक के जीवन का मुख्य आधार माता है। प्रथम तो वह गर्भ का भार नौ-नौ मास तक वहन करती है। गर्भ को लेशमात्र भी दु ख न हो, इसके लिए वह वात्सल्य मूर्ति अपनी प्रिय से प्रिय वस्तु का भी त्याग कर देती है, खानपान के स्वाद और रसवृत्ति पर सयम रख कर सादा और सामान्य आहार लेती है। गर्भ को जरा भी तकलीफ न हो इसलिए उठना, बैठना, बोलना, चालना आदि अपनी हर क्रिया बडी सावधानी से करती है। प्रसव के समय वह अपार और असह्य कष्ट सहती है।

परन्तु प्रसव के बाद ज्यो ही अपने हृदयधन बालक की ध्वनि सुनती है कि सारा दु:ख भूल जाती है, उसके मुख पर मृदु हास्य रेखाएँ उभर आती है। कितना अगाध वात्सल्य ! जन्म होने के बाद बालक का स्वास्थ्य सुन्दर रहे, इसके लिए माता खानपान आदि मे पूर्ववत् सयम रखती है और जब-जब जरूरत हो तब अपने सभी कार्य छोड कर बालक को स्तनपान कराती है। स्वय अन्य सब काम करती हो, फिर भी उसका ध्यान तो अपने बालक मे ही होता है। बालक की हसी से माता के दिल मे स्वर्गीय आनन्द और बालक के रुदन मे औदासीन्य छा जाता है। अपनी ममतामयी गोद मे सुला कर वह नन्हे शिशु को पपोलती है, मस्तक पर वात्सल्यमय हाथो से सहला कर बालक को हिलाती है, पालने मे झुलाती है। कितने मीठे वचन और कितने अमृत भरे नयन!

माता के साथ बिछौने मे सोया हुआ बालक मूत्र या विष्टा से उसके उत्तम वस्त्रो को बिगाड देता है, फिर माँ बिना किसी क्षोभ से साफ करती है। नन्हे मुन्ने को सूखे मे सुलाती है, रात भर कभी-कभी जागरण करती है, कभी भरनीद मे बालक का रुदन सुन कर जाग उठती है। ऐसे अनेक कष्टो मे भी जिसका वात्सल्य-प्रवाह अखण्डित रहता है, ऐसी कोई भक्तिमती सेविका हो तो वह सिर्फ माता ही है। सारे जगत् मे जिसकी जोड़ का कोई नही है ! चन्द्र, सूर्य, पृथ्वी, पानी आदि जगत् के महान् उपकारी है, किन्तु जननी के अनन्त उपकार के सामने उसके उपकार नगण्य मालूम होते है। जननी के गुणो की सख्या अपार है। ऐसी पारावार उपकारिणी जननी को कोटिश वन्दन !

पिता का स्नेह भी अतुलनीय है। पुत्र के लालनपालन के पीछे उसके समय और शक्ति का काफी हिस्सा है। बालक के लिए वह अपनी प्यारी-से-प्यारी सम्पत्ति को न्यौछावर कर देता है। उसके सुख के हेतु पिता की सेवा का पर्याप्त हिस्सा है।

अधमता का परिचय

किन्तु उस वात्सल्यप्रवाहिणी, अनेकोपकार कारिणी पूजनीय माता

को "चुपचाप बैठी रह, 'अधिक बडबड मत कर' और उपकारी पूज्य पिता को "बस, बूढे होगए, 'साठी बुद्धि नाठी' होने से बुद्धि सठिया गई है," ऐसे तिरस्कृत वचनो और अपमानसूचक विशेषणो से जव आज के कलियुगी बेटे पुकारते है, तब माता-पिता को बडा दु ख होता है । सच-मुच यह भारत का दुर्भाग्य है । ऐसे लोगो की वृत्ति पशुओ से भी गई बीती है।

अगर आधुनिक शिक्षा लडको मे ऐसी निष्ठुर वृत्ति पैदा करती हो तो ऐसी शिक्षा को शीघ्रातिशीघ्र तिलाजलि देनी चाहिए। इसकी जरा भी आवश्यकता नही है । जिस वातावरण मे ऐसी दु स्वार्थवृत्ति पैदा होती हो उसका भी नेस्तनावूद होजाना श्रेयस्कर है । जो धन या अधिकार माता-पिता और पुत्र के वीच या भाई-भाईयो के वीच झगडा पैदा करता है उस धन को दफना कर और उस अधिकार को तिलाजलि देकर गरीबी मे दिन काटना मानव-सस्कृति के लिए अधिक सलामत राह है।

अभक्ति के कारण

माता-पिता के प्रति पुत्र मे ऐसी अभक्ति पैदा होने के मुख्य कारण ये है —

१ **उम्र का मद**—जवानी, धनप्राप्ति और अधिकार ये तीनो जहाँ मिलते है, वहाँ प्राय अविवेक भी आकर अपना अड्डा जमा लेता है । जिससे पुत्र जवानी के नशे मे माता-पिता के पूर्व उपकारो को विस्मृत हो जाता है, कर्त्तव्याकर्त्तव्य का भान नही रहता। इससे वह माता-पिता को कुछ नही गिनते । पूर्वोक्त चारो की चाडाल-चौकडी मिलकर स्वच्छ-न्दता को बढाती है । अधिकार और धन का मद भी कर्त्तव्यभ्रष्ट बनाता है । ऐसी स्वच्छन्दता आजकल बहुत से युवको मे दृष्टि-गोचर होती है। इसको वे स्वतन्त्रता मे खपाते है, यह कह कर कि हम तो स्वतत्र रहना चाहते है, आज स्वतन्त्रता का जमाना है । परन्तु यह निरी स्वच्छदता

ही है, जिसके कारण उनके विचार और उत्साह अत्युच्च होते हुए भी वे आगे नही बढ सकते, बहुत-सी बार ठोकर खाते और मारे-मारे फिरते है। ऐसे युवको को नियमो की अधीनता लेशभर भी अच्छी नही लगती, वे स्वैर (स्वच्छद) विहार पसद करते हैं। अपनी स्वेच्छाचारी वृत्ति के कारण वे समाज की शुद्ध प्रणालि को और नियमो को तोडते देर नही लगाते। इसमे समाज मे अव्यवस्था बढती है। समाज के रूढिपरायण अगुआ ऐसे स्वच्छदी युवको को नास्तिक कह कर इसके प्रति अपना कर्त्तव्य चूक जाते हैं, क्योकि उन्हे तो किसी अहितकर रूढि से जरा-सा भी टस से मस नही होना है। फलत अराजकता बढती है।

युवक की इस स्वच्छदी प्रवृत्ति का चेप प्राय उसकी सहचारिणी को लगता है। फलस्वरूप दोनो नैतिक कर्त्तव्यो के प्रति लापरवाह होते जाते है। और नाटक, सिनेमा, आमोद-प्रमोद, सैरसपाटे, खोटे नखरो और फैशन मे अत्याधिक धन बर्बाद करते है, अपनी हैसियत की ओर नही देखते। अपने घर की लगाम खुद के हाथ मे आजाने से वे कमाने के बजाय खर्च अधिकाधिक करते जाते है। बुरी सोहबत से भी वे कई दुर्व्यसन और बुराइयो के शिकार हो जाते हैं।

पुत्र की ऐसी स्वैच्छाचारिता देख कर माता-पिता उसे रोक-टोक करते है तो वह उसे जरा भी सहन नही होता, उनकी भली सीख भी सुनने को वह तैयार नहीं होता। फलस्वरूप माता-पिता के साथ उसकी हर बात पर ठनती रहती है। माता-पिता के प्रति अभक्ति होने का एक कारण यह भी है।

२ विचारो की असमानता—कई बार पुत्र को माता-पिता के विचारो मे मेल नही खाता। इससे असहिष्णु और उद्दण्ड युवक तो माता-पिता से झगडने लग जाते है और मधुरस्नेह मे क्लेश के जहरीले बीज बो देते है। इसमे माता-पिता भी कुछ अश मे दोषी होते हैं। कई मातापिता रूढियो के इतने गुलाम और अज्ञान होते है कि वे 'पहले से

चली आती है' 'बावा वाक्य प्रमाणम्' इत्यादि कह कर लकीर के फकीर होते है, गतानुगतिकता से एक इच भी इधर उधर होने को तैयार नही होते। विचारक और समझदार पुत्र के द्वारा धार्मिक क्रिया या समाज की अमुक रूढि या रीतिरिवाज के बारे मे जिज्ञासापूर्वक कुछ भी पूछे जाने पर या दलील करने पर रूढिदास माता-पिता तुरत भडक उठते है और कहने लगते है–तू कल का नादान छोकरा क्या जाने इसमे? क्या हमारे बाप दादे मूर्ख थे जो उन्होने यह प्रथा चलाई ! तू अब अविनीत हो गया है, नास्तिक है, अधिक पढ लिख कर तर्क करना सीख गया है। कई पिता तो गुस्से मे आकर गालियो की बौछार शुरू कर देते है या वयस्क पुत्र के थप्पड भी मार देते है। इस प्रकार वयस्क पुत्र के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए, इसका भान न रहने से वे उसके मन को क्षुब्ध कर देते है। ऐसे कारणो से अपने बुजुर्गो के प्रति उसका हार्दिक आदरभाव या पूज्यभाव सूख जाता है, परस्पर असतोष बढता है। कई पुत्र सभ्यतावश चुपचाप यह सह लेते है परन्तु मनमुटाव के सस्कार उसकी मानसभूमि मे बढते जाते है। इसी दौरान मे कभी आवेश या उच्छृखलता आ जाय तो वह असतोष कार्यरूप मे भी परिणत होना सभव है।

परन्तु अगर माता-पिता उसके विचारो को सुनकर उनमे कही त्रुटि या दोप देखकर सुधारने का कहे तो समझदार पुत्र को सहनशील और उदार बन कर अपने कर्त्तव्य का पालन करना चाहिए और उनकी कोई बात गले न उतरती हो तो भक्ति और प्रेम से उन्हे सत्य समझाने का प्रयत्न करना चाहिए।

२ सासु-बहू की अनबन—सासु बहू मे अनबन भी मातापिता के प्रति पुत्र की अभक्ति का कारण बन जाती है। यह दो कारणो से पैदा होती है–कार्य और विचार मे पारस्परिक असहिष्णुता और नोकझोक तथा मामूली भूल होते ही टोकने का स्वभाव। समझदार स्त्री ऐसी

मामूली बातो को अधिक महत्त्व नही देती और अपनी सासु के साथ सुमेल साध लेती है, सेवा से उसका दिल जीत लेती है। कई सासुओ मे यह खूबी होती है कि वे अपनी जवान पुत्रवधुओ को प्रेम की गाँठ से बाँध कर सुराह पर चलाती रहती है। परन्तु अविवेकी और असहिष्णु सासुएँ बात-बात मे कलह मचा देती है और पुरुषो को अपना हथियार बनाती है। इसके कारण पुत्र की भी माता के प्रति और साथ ही पिता के प्रति भक्ति कम हो जाती है। इस कारण का विस्तृत विवेचन इस खड के चौथे प्रकरण मे किया गया है।

पुत्र सहिष्णुता और उदारता रखें

असहिष्णु माता-पिता से कई भूलें समाज की परिस्थितिवश होती है। बहुत-से माता-पिता तो भोले और बेसमझ होने के कारण ऐसी भूले कर बैठते है। उन्हे अपने पुराने जमाने का अनुभव होता है, उसी के सस्कारो की परतें उनके दिमाग मे जमी होती है, उन्हे नये जमाने की हवा का असर कम होना स्वाभाविक है। ऐसे मौके मे सबसे अधिक जिम्मेवारी पुत्रो की हो जाती है। माता के अनन्त उपकार से वे दबे हुए है। माना कि उनमे जवानी की चुलबुलाहट है, शिक्षा और सस्कारो की शक्ति भी है, फिर भी ये सब माता-पिता से प्राय. प्राप्त हुए है। इसलिए वे अपने विचार और व्यवहार से भले ही कुरूढि और कुरीति का परिहार करें, पर जोश के साथ होश और सहिष्णुता को न खोएँ।

मातृ-पितृ-सेवा

जो युवक अपने माता-पिता की सेवा भी नही कर सकते, वे अपने कुटुम्ब, समाज, या राष्ट्र की सच्ची भक्ति करने के लायक नही हो सकते। क्योंकि सेवा का प्राथमिक क्षेत्र अपने पवित्र बुजुर्ग ही है। शास्त्रो मे माता-पिता को जगमतीर्थ बताया है। धर्मजपुत्र और भक्त श्रवणकुमार ने अपने कधो पर बहगी डालकर उसमे माता-पिता को बिठा कर पैदल घूमकर उनकी भावना पूर्ण की थी। जिसकी यशोगाथाए आज भी गूज रही है।

सदा माता-पिता के निकट रहना और वे कहे वह सब ज्यो का त्यो सच मान लेना, उनकी प्रत्येक वृत्ति के अधीन होना या उनकी पगचपी करना इतने मे ही विनय या भक्ति की इतिसमाप्ति नही हो जाती। बुजुर्गो के वचनो मे, या वृत्ति मे भी भूल हो तो उसे सुधारना भी भक्ति है। जैनशास्त्र ठाणागसूत्र मे चार प्रकार के पुत्र उत्तम और धर्मयुक्त बताए है। उनमे भी सच्चा मातृ-पितृ-भक्त उसे ही बताया है जो स्वय सत्यमार्ग समझकर विवेक और भक्ति से अपने माता-पिता को उस मार्ग मे प्रेरित करता है। इससे फलित होता है कि नीति और धर्मयुक्त कार्य विवेकपूर्वक करके बुजुर्गो के हृदय को सन्तुष्ट करना ही उनकी सच्ची भक्ति है। ऐसी भक्ति की साधना मे काफी त्याग करना होता है, अपने अह को होमना होता है। परन्तु ऐसा करना सुपुत्रो का अनिवार्य कर्त्तव्य है। कई पुत्र तो समाज की शर्म से औपचारिक रूप से भक्ति बताया करते है। यह सच्ची भक्ति नही, अपितु भक्ति का नाटक है। कई सपूत ऐसे भी होते हैं जो जिन्दगी भर माता-पिता के सुख-दु.ख की ओर देखते नही, बल्कि उन्हे हैरान करते रहते है, पर उनकी मृत्यु के बाद जोर-जोर से रुदन, खर्चीला मृतभोज, पितृश्राद्ध आदि क्रियाए किया करते है, यह भी सच्ची भक्ति नही है

सच्ची भक्ति हृदय से होती है, जिसमे जीवनपर्यन्त अग्लान भाव से माता-पिता की सेवा करना, वे वृद्ध हो तो उनके सिर से कार्य भार कम करके उन्हे निवृत्त करना, परमार्थकार्य मे उन्हे सुविधाएँ देना, उनकी योग्य रुचियो का आदर करना, प्रत्येक व्यावहारिक कार्य मे उनसे परामर्श लेना, उनका विनय करना आदि सत्क्रियाए समाविष्ट है। ऐसी सच्ची भक्ति कुटुम्ब-आदर्श और समाज के लिए अनुकरणीय बनती है, माता-पिता के अन्त करण से आशीर्वाद पाकर वे दम्पति ऐहिक और पारलौकिक दोनो हित और सुख को प्राप्त करते हैं। अपने गृहस्थाश्रम को सुखद बनाते है।

सास-ससुर के कर्त्तव्य

माता-पिता, स्वजन और प्यारी जन्म-भूमि इन सबको छोडकर जब परिणीत नववधू अपने श्वसुरगृह मे प्रवेश करती है, तब मानो नया जन्म हुआ हो, इस प्रकार वह नवोढा किंकर्त्तव्यविमूढ-सी हो जाती है। कुछ दिनो तक तो उसे बिल्कुल चैन नही पडता। माता का वात्सल्य उसे रह-रह कर याद आता है, सहेलियो का स्नेह और मधुर विनोद के सस्मरण उसकी आखो मे सावन-भादो की तरह उमड आते हैं और भाभी के लाडभरे बोल उसे गद्गदित कर देते है। कितनी होती है यह विरह-वेदना!

ऐसी विरह-वेदना से पीडित युवती को ऐसे प्रसग मे पति के विशुद्ध प्रेम और सगी माता को भी भुला दे, ऐसी सास के मधुर आश्वासन की जरूरत होती है।

सासू के मनसूबे

पुत्र के जन्मकाल से लेकर आज तक यानी २०-२५ वर्ष तक उस पुत्र की माता ने इन्ही विचारो को पाला-पोसा होता है—"कब पुत्र-वधू आए और कब मै सासू बनूं। सासू बनूंगी तब मैं पट्टे पर बैठी-बैठी 'यह करो, वह करो' इस प्रकार के हुक्म छोडूंगी। बहू सारे काम उठा लेगी और मेरी सेवा करेगी।" पुत्र-वधू के घर मे पदार्पण के पहले ही मनसूबो का ढेर सास ने दिमाग मे भर रखा होता है। भूखा शेर जैसे जानवर पर टूट पडता है, वैसे सासू बहू के आते ही उससे दबा-धमका कर काम लेने पर उतारू हो जाती है।

सासूशाही के संस्कार

पुत्रवधू से काम कराना और जहा उसकी भूल होती हो, वहा मा की तरह हित शिक्षा देना, कोई बुरा नही है, परन्तु ऐसी वात्सल्य हृदय वाली सासुएँ विरली ही होती है। अधिकाँश तो बहू पर रौब गाँठ कर अपनी सासूशाही चलाती है। सास मे ऐसे सस्कार बहुधा पीढी-दर-पीढी से चले आते है। ऐसी परम्परा कब और कहाँ से चली ? इसका कोई निश्चित इतिहास नही मिलता है। परन्तु यह तो निर्विवाद है कि जब सासुओ ने इस सासूशाही का श्रीगणेश किया होगा, तब से स्त्रीजाति की अवनति का पाप अपने सिर पर ले लिया। सासूशाही के पजे मे फसी हुई अनेक अबलाओ के अन्त करण से यह पुकार आ रही है। कौशल्या जैसी कौन पतितपावनी सासू इस पुकार को सुनकर स्त्रीजाति के कलक को धोकर स्त्रीशक्ति की उद्बोधिका बनेगी ? पति का पदानुसरण करने के लिये वन-प्रस्थान करने वाली सीतादेवी को रोकती हुई माता कौशल्या का चल-चित्र सासू का आदर्श उपस्थित कर देता है ! काश ! आज की सासुए उसे हृदयगम करती !

बात-बात में रोक-टोक

आज ऐसी अनेक सासुए घर-घर मिलेगी, जिन्हे बात-बात मे अपनी बहुओ को झिडकने, रोकने और डाटने की आदत पड गई है। बहू जरा-सी जोर से बोलने लगी कि यह 'बहू है या ढोर ! जरा भी बडो की मर्यादा नही, शर्म नही !' किसी काम मे थोडी-सी देर हुई या भूल हुई तो गालियो की झडी बरसाने लगती है और तिल का ताड बनाकर सारे कुटुम्ब मे बेचारी बहू की मिट्टी पलीद कर देती है। इतना ही नही, अपने पुत्र के कान भर कर पति-पत्नी के बीच दरार पैदा कर देती है। कई बार तो कान के कच्चे या माता के पक्षपाती पतिराज बेचारी निरपराध अबला को इतना मारते-पीटते है कि वह अभिशाप बरसाती हुई परलोक की पथिक बन जाती है।

बस, सासू-बहुओं के झगड़ों का मंगलाचरण यहीं से होता है। अगर उस युवती का पति सच्चा प्रेमी और समझदार हो तो उसके मधुर आश्वासन से वह ऐसे समय सब कुछ सहन कर सकती है। और ऐसा सुदक्ष पति अपनी माता और पत्नी का सुमेल कराकर कार्य-कुशलता बता सकता है। पर जहाँ पति ही अविवेकी दब्बू या भोंदू हो वहाँ तो ऐसी अबलाओं की बहुत दुर्दशा होती है और ऐसी निराधार अबलाएँ इस अमानुषिक यातना से छुटकारा पाने के लिए गले में फाँसी खाकर, कुए में पड़कर या अग्निस्नान करके अपना शरीर छोड़ती है।

ऐसी घटनाओं में कुछ अंशों में बहुओं का भी दोष जरूर होगा; परन्तु उन दोषों को स्नेहपूर्वक हितशिक्षा द्वारा दूर करना भी तो सासू का सर्वप्रथम कर्त्तव्य है, क्योंकि बहू की अपेक्षा सासू की जिम्मेवारी अधिक है।

सासुओं का कर्त्तव्य

निम्नलिखित कर्त्तव्यों पर समझदार सासुएँ ध्यान दे तो काफी अंश तक इस प्रश्न को हल कर सकती हैं—

(१) **पुत्रवधू पर पुत्रीभाव रखना**—जैसे पुत्री की अनेक भूलें होने पर भी वात्सल्यमयी माता की आंखों में रोष नहीं आता, वैसा ही वात्सल्य सासू कहलाने वाली स्त्री को अपनी पुत्रवधू पर रखना चाहिये, क्योंकि वास्तविक पुत्री तो पुत्रवधू ही है, वही जिन्दगी भर साथ रह कर सेवा करनेवाली है। 'नववधू मेरी गुलाम नहीं, पर पुत्री है।' यह समझकर उसे प्रेमलपात्र बनाना चाहिये।

(२) **बहू को योग्य स्वतन्त्रता देना**—मानवमात्र को स्वतन्त्रता प्रिय है और योग्यतानुसार वह इसका अधिकारी भी है। गलत तरीकों से इसका दमन करने और उस पर अत्याचार ढहाने से वह उत्तेजित हो जाता है, उसके हृदय को चोट पहुँचती है और वह विद्रोही बन जाता है। कदाचित् जब तक वह सशक्त या प्रतीकार योग्य न हो तब तक

सब कुछ मूकभाव से सहता है, पर समय आने पर बदला लिये बिना नही रहता। बहू भी कुटुम्ब का एक अग है, और भविष्य मे वही घर की मालकिन बनने वाली है, यो समझकर वह किसी पदार्थ का योग्य मार्ग मे उपयोग करे तो उसका विरोध या रोकटोक न करना चाहिए। अगर उसे घर के छोटे-बडे कामो या दाम्पत्यजीवन मे छूट नही दी जायगी और पति-पत्नी सही तरीके से अपने मार्ग पर चले जा रहे हो उस समय किसी खास प्रसग के बिना उनके व्यक्तिगत जीवन मे रोक-टोक की जायगी तो सास-ससुर दोनो को इसके भयकर कटुफल वृद्धा-वस्था मे चखने पडेंगे। अत जिससे उनकी स्वच्छन्दता का पोषण न हो, ऐसी छूट देनी अनिवार्य है।

(३) **कार्य और विचार में सहिष्णुता रखना**—घर मे आई हुई नई बहू का पद-पद पर भूल कर बैठना स्वाभाविक है। उस समय हित-शिक्षा देने के बदले कई सासुएँ झिडकती हैं, डाँट-डपट करती है या ताने मारती है, या माँ-बाप तक की गालियाँ और गलत आक्षेपो से कायल कर देती हैं, यह मानवजाति की भयकर क्रूर हिंसा है। अफसोस है कि अहिंसक सासुओ को इसका भान तक नही होता।

विचारो की असहिष्णुता का परिणाम भी बुरा आता है। कई सासुएँ अविश्वासी एव बहमी स्वभाव की होती है। वे खानेपीने जैसी मामूली चीजो को ताले मे बन्द रखती है। समवयस्क सखियो के साथ बहू बात कर रही हो तो उन्हे ऐसी शका होती है कि यह मेरे बारे मे ही कुछ कह रही है, इस भय से वह अपनी प्रकृति सुधारने के बदले बहू पर जोर अजमाती है, उसे घर की चहारदीवारी से बाहर नही निकलने देती, उसे अपने मैके भी नही जाने देती। यहाँ तक कि उसे अपने पति से मिलने का मौका भी कम आने देती है। एक आशाभरी निर्दोष युवती को अमानुषिक यातना देते समय वह सासू अपनी जवानी के दिन क्यो भूल जाती है? ऐसे मर्मान्तिक यातना से कोई भी कुटुम्ब

सुखी नहीं हो सकता। अतः ऐसी क्लेशकारणों को पैदा न होने देने के लिए समझदार सासू को प्रेम, क्षमा और धैर्य रखना चाहिए और किसी भी जिम्मेवारी का कार्य बहू को अनजान रख कर नहीं करना चाहिए।

भारतीय विधवाओ की कष्टकथा

पति की उपस्थिति मे भी जिस युवती पर अत्याचार ढहाया जा रहा हो, उसका वैधव्यजीवन कितना रोमाञ्चकारी होगा! सौभाग्यहीन विधवा पुत्रवधू के प्रति ऐसे समय मे सास-ससुर के कर्त्तव्य बढ जाते है। उन्हे समझना चाहिए कि विधवा भी एक मनुष्य है, उसमे भी सुख-दुःख की भावनाएँ है। पति के गुजर जाने से उसके साथ उस विधवा की वृत्तियाँ नही चली जाती। उसके भी हृदय है। उम्र और वातावरण का प्रभाव उस पर भी पडता है। वह चेतनारहित नही है। अतः मानवता के नाते सहानुभूति व सद्भावनापूर्वक उसके साथ व्यवहार करना चाहिए।

कुटुम्ब की दृष्टि मे सम्पूर्ण पराधीन स्त्री, कुटुम्ब पर भारभूत, कुटुम्ब मे क्लेश का कारण और सम्बन्धियो की भयकर चिन्तापात्र! समाज की दृष्टि मे अपशकुनवती तिरस्कृत स्त्री, सगे-सम्बन्धियो की मजूरिन, निरुपयोगी! यह है भारतीय विधवा बहन का जीताजागता चित्र!! परन्तु नारीजाति की इस अपमानित दशा से समाज का कितना विकास रुकता है? समाज को कितना सहना पडता है? इससे शायद ही कोई अनजान होगा!

जिस पिता के यहाँ बालविधवा पुत्री है और युवती पुत्रवधू है, उसे अपनी वृत्तियो पर सयम रखना चाहिए। जो सास-ससुर अपनी जवान पुत्रवधू के ब्रह्मचर्य पालन का अनुगमन करते है, विधवाबहन के प्रति वात्सल्य और सहिष्णुता का प्रवाह बहाते है, उसके हृदय मे सद्-वाचन तथा सुसस्कार डालते हैं, वे अपनी त्यागमूर्ति विधवा पुत्रवधू के वैधव्यजीवन का दुःख भुलाकर उसे अमरता के पथ पर प्रेरित करते है और उसके हार्दिक आशीर्वाद प्राप्त करते है।

जो सास-ससुर अपना भविष्यकालीन जीवन सुखी देखना चाहते हो और जिन्हे अपने पुत्र तथा पुत्रवधू से हार्दिक सेवा की उत्कंठा हो, उन्हे कम से कम अपने स्वार्थ के लिये भी पूर्वोक्त कर्त्तव्यमंत्रो को जीवन मे उतारना चाहिए ।

सास-ससुर के प्रति पुत्रवधू का कर्त्तव्य

प्राणिमात्र मे स्नेह का प्रवाह जहाँ-तहां बहना और विकसित होना देखा जाता है। इस स्नेह मे जितनी अविकृति होती है, उतने ही सौहार्द-सुख और स्थायित्व उसमे होते है।

पति और पत्नी का सहकारी जीवन भी उसी स्नेहसरिता को समग्र कुटुम्ब, समाज और राष्ट्र के नद मे प्रवाहित होकर विश्वस्नेहसिन्धु मे मिलने के लिए है। दोनो का स्नेह अपने बुजुर्गों व सन्तानो के क्षेत्र मे विकास पाने के लिए है। बाल्यकाल से ही दम्पती के माता पिता उनमे स्नेह सस्कार सीचते रहे है और अब भी सीचते रहते है। साथ ही उस स्नेहवारि मे विकृति का विष न मिल जाय, इसकी सुरक्षा भी वे करते रहते है। वयस्क होने पर उनमे धर्मसन्तान पैदा करने की उत्कट इच्छा जागृत होने पर ही ब्रह्मचर्य या श्रमकाल पूरा होने के बाद सुयोग्यपात्र के साथ स्नेहबन्धन से जोड कर उनके मार्ग मे आने वाले विघ्नो को दूर करने की शक्ति और शिक्षणसभार भर देते है।

नववधू का व्यवहार

पितृगृह छोड कर जब से नवोढा युवती अपने पतिमदिर मे पैर रखती है, तभी से उसे अपने मनमे सारे नये कुटुम्ब-निर्माण की कल्पना करनी चाहिये। और पतिस्नेह की मधुर आशा और अपने मन मे सजोए हुए स्वप्नो को साकार रूप देने के लिए उसे इतना महान् त्याग करने की प्रेरणा मिली है। इसी प्रेरणाबल से ही वह नये क्षेत्र के प्रति आकर्षित हुई है। इतना सोच लेने और अपने को गृहस्थयन्त्र मे यथास्थान फिट कर लेने से विरहदुःख विस्मृत हो जायगा और भावीजीवन सुखमय

बनेगा। जो नववधू श्वसुरगृह को अपना नही बना सकती, उसका गृहस्थाश्रम दुख और क्लेश के मैल से मलिन हो जाता है और उसके पति की भी दुर्दशा होती है।

श्वसुर को पिता, सास को माता, देवर को भाई, ननद को वहन, देवरानी जिठानी को स्नेही सहचरियाँ और पति को हार्दिक प्रेम का केन्द्रस्थान समझे और तदनुरूप भावना रग-रग मे भर ले, इसी प्रकार का कुटुम्बभाव आने पर ही गृहस्थाश्रम सागोपाग स्वर्गसम सुखद वन जाता है। यद्यपि परिणीत नववधू की यह कठोर कसौटी है, परन्तु इसमे पास हुए विना छुटकारा नही।

खेद है अपने माता पिता द्वारा कई लडकियो को सुसस्कार न मिलने के कारण उनमे न तो गृहस्थाश्रम-प्रवेश के पहले ही गार्हस्थ्य-भार उठाने मे कितने वल और विवेक की आवश्यकता है, इसका व्यावहारिक ज्ञान होता है, और न अपने पति, देवर, सास-ससुर, ननद, जेठानी आदि नये कुटुम्वियो के साथ व्यवहार करने का यथार्थ भान होता है। इस त्रुटि के कारण उसे स्वय को वहुत ही सहना पडता है।

कई लडकियो को अपने माता-पिता से ऐसे कुछ सस्कार मिले होते हैं, और वे तादृश कुटुम्वभाव लाने का प्रयत्न भी करती है, मगर वैसे कुटुम्वभाव की अराधना के सक्रिय उपायो से अनभिज्ञ होने या मदप्रयत्न होने के कारण वे असफल रहती हैं। कई लक्ष्मीनदनो की पुत्रियाँ मूर्ख-सी होती है, उनमे अपने पिहर की सम्पत्ति का मिथ्यामद होता है जिससे श्वसुरगृह मे स्नेहभाव के कारण वह सास ससुर, देवरानी, जिठानी ननद और पति को भी प्रेम मे जीत नही सकती। पिता की कोटि मुद्रा उसके किस काम की ? उसके लिए श्वसुरालय का स्नेहधन ही सर्वस्व है। पर इस वात से अनभिज्ञ होने के कारण वह अपने सुखमय ससार को विपाक्त वना देती है। यही नही इसका कटुफल भी उसे वाद मे

भोगना पड़ता है। इसमे सबसे ज्यादा जिम्मेवार उनके माता पिता हैं उन्हे अपनी पुत्री को सही बात समझानी चाहिये।

कई युवतियाँ योग्य या अयोग्य उपायो से अपने पतियो को खुश रखने मे ही अपने कर्त्तव्य की इति श्री मानती है, अन्य सम्बन्धियो के प्रति उपेक्षा रखती है। यद्यपि पति गृहस्थाश्रम का मुख्य पात्र है, इसलिए उसके प्रति हृदय मे उच्चस्थान हो यह बुरा नही, किन्तु जो स्नेह दूसरे सम्बन्धियो के प्रति द्वेष, वैर, या क्लेश पैदा करे, वह अनिच्छनीय या मोहरूवासना अथवा आसक्ति (राग) है। वह सच्चा स्नेह नही है। और ऐसी वासना से सास श्वसुर के प्रति पद पद पर मन-मुटाव के निमित्त आएंगे और गृहस्थाश्रम दुखमय बन जायेगा।

कई जगह ऐसी भी फूहड औरतें होती है, जो खुद को अपने घर की स्वामिनी नही समझती, इससे वे अपना श्वसुरधन किसी बहाने से अपने पीहर भेजने मे खुश होती है। यद्यपि ऐसी कुटेव बहुत कम औरतो मे पाई जाती है, परन्तु यह श्वसुर-कुटुम्ब के स्नेह मे बडा विघ्न डालने वाली है।

नववधू के कर्त्तव्य

१ समझदार स्त्री विकारी या मोहान्ध स्नेह नही चाहती, क्योंकि वह समझती है कि वैसे स्नेह मे पति या पत्नी किसी का उत्कर्ष नही है।

२ जवानी के नशे मे पागल बनकर वह कर्त्तव्यभ्रष्ट नही बनती, क्योकि कर्त्तव्यपालन ही तो जीवन की उच्चता है।

३ अपने जवान पति को मार्ग चूकने से सच्ची हितशिक्षा देकर रोकती है, क्योकि वह समझती है कि धर्म्यसन्तान मे सस्कारिता धर्ममार्ग पर चलने से ही आ सकती है।

४ समझदार स्त्री खानपान, वस्त्र आदि उपयोगी सामग्री पर सयम रखती है, क्योकि असयम से बहुत-सी बार कुटुम्ब-कलह पैदा होते है और व्यसनो से धन बर्बाद होने पर मानववृत्ति अकार्य की ओर झुकती

है, जो सतीजीवन के लिए कलक है। अत वह शील और सद्गुणो को अलकार मानकर उनसे सुसज्ज होती है ।

५ वह सास-ससुर की सेवा तथा गृहस्थाश्रम के प्रत्येक व्यावहारिक कार्य मे दक्ष रहती है, क्योकि इससे उसके पति पर मानसिक बोझ कम होजाता है और पति-भक्ति और पति-प्रेम मे वृद्धि होती है ।

बहूशाही के पजे में

उपर्युक्त कर्त्तव्यो के प्रति लापरवाह और यौवनमद से बेभान युवतियो की आज कमी नही है। उनके आश्रित (भरोसे) रहे हुए सास-ससुर की दशा सासूशाही के पजे मे फसी हुई बहू के जैसी ही होती है।

ऐसी युवती अपने भोगविलास और ऐशोआराम मे मशगूल रहती है और अपने वासनाग्रस्त पति को भी अपनी आत्मा वेच कर अपने शरीर को भोगसाधन बनाकर अपना गुलाम बनाने से नही चूकती फिर तो पूछना ही क्या ! प्रतिदिन स्वच्छन्दता की मात्रा बढती ही जाती है। खानपान, वस्त्राभूषण एव आमोद-प्रमोद के साधनो के पीछे समय, शक्ति और धन तीनो स्वाहा कर देती है। अपने स्वच्छन्दी क्षेत्र मे विघ्न डालने वाले सभी पात्रो को कटक मान कर वह उन्हे उखाड फेंकने का प्रयत्न करती है, परन्तु उसके सास-ससुर अब पक्की उम्र मे, अशक्त होने से उसके चगुल से छूट भी नही सकते । अत लाचार हो-उन्हे बहूशाही के पजे का शिकार वनना पडता है। पुत्रवधू के स्वच्छन्दी जीवन से उन्हे अत्यन्त खेद होता है, पर वे करे क्या ? उनकी हित-शिक्षा को ये मानने से रहे ! उलटे, कई वार वे माता-पिता को अपमानित करके उनकी दुर्दशा भी कर डालते है। अत ऐसे मौके पर दो आसू वहाने और चुपचाप पडे रहने के सिवाय कोई चारा नही !

कई वहुएँ तो ऐसा ताना भी मारती है—"हम अपने हाथो से कमाते है, आपने कभी कमाया भी है ?" "मेरा पति कमाते-कमाते थक जाता है, तव कही जैसे-तैसे घर का खर्च चलता है, फिर आपको कहाँ से खिलाएँ ?" पैसा एक भी कमाते-वमाते नही, खाने को पूरा चाहिए

काम करो तो खाने को मिलेगा।" इस प्रकार वाक्यबाण बरसा कर अपने पवित्र सास-ससुर को शान्ति पहुँचाने के बदले घायल कर देती है, दुगुना कष्ट पहुँचाती है। उस पर तुर्रा यह कि वह युवक अपने माता-पिता पर कष्टों का इतना पहाड़ टूटने देखकर भी अपनी पत्नी को कुछ न कह कर उन्हीं के गले दोष मढ़ता है। उस समय उन वृद्धों के अन्तर मे गहरी आह निकलती है कि—ऐसी जिन्दगी से तो मौत भली।" परन्तु कर्म का यह अटल नियम है कि जो बहू अपने बुजुर्गों पर इतने जुल्म गुजारती है, उनका भी वृद्धावस्था मे ऐसा ही हाल होता है। इस न्याय को समझकर अपने सास-ससुर के प्रति स्नेहभाव रखना और उनकी सेवाशुश्रूषा करना प्रत्येक पुत्रवधू का कर्त्तव्य है।

सच्ची सेवा

केवल सासू की पगचपी करने या सास-ससुर का पर्दा करने मे ही सेवा की इतिश्री नही हो जाती। परन्तु शुद्ध प्रेम और कर्त्तव्य-साधक मर्यादाए रखकर उनके चित्त को प्रसन्न रखने मे ही सच्ची सेवा है। वृद्धावस्था मे उनकी इन्द्रियाँ और मस्तिष्क-शक्ति क्षीण होने से प्रकृति का भी तेज होना सभव है, पर हिताकाक्षिणी बहुओ को प्रत्येक क्रिया मे सहिष्णुता और सेवाभावना को मद्दे नजर रखते हुए उनकी वृत्ति को सतुष्ट करना चाहिए। सास-ससुर की कटु हितशिक्षा भी अमृत मानकर पीनी चाहिए। जो स्त्रियाँ अपने सास-ससुर की भक्तिभाव से सेवा करती है, उनकी बीमारी मे शुश्रूषा करती है, वैद्या बनती है, प्रत्येक कार्य मे उनका स्थान उच्च रखने की विनीतता दिखाती है, वे वधू का उत्तम आदर्श उपस्थित करती है।

भारतीय इतिहास मे प्रत्येक पृष्ठ पर पक्ति-पक्ति मे ऐसे आदर्श अकित है, उनमे मे एक अजलि भर कर यदि आज की पुत्रवधू गृहस्थाश्रम मे गति करेगी तो उसका गृहस्थाश्रम दिव्य बने बिना न रहेगा।

भाइयों का कर्त्तव्य

एक ही माता के उदर से पैदा हुए सहोदरो मे एक स्नेह का प्रवाह बहता है, या अव्यक्त तत्त्व का तार जुडा होता है, जिससे वे जीवन-भर एक दूसरे के सहायक और माता-पिता के पोषक बनते है। ऐसा अव्यक्त स्नेहाकर्षण माता के स्तनपान या सस्कारपोषण से पैदा होता होगा या एक पिता की पूर्णभावना से उद्भूत होता होगा, यह तो भगवान् जाने ! परन्तु यह पारस्परिक स्नेहधारा, एक भाई कम या अधिक कमाता हो या कमोवेश कार्य करता हो, फिर भी सभी स्थितियो मे समानरूप से बहा करती है। एक भाई दूसरे भाई के दु ख मे दु खित होता है, गिरते हुए का सहारा देता है, डूबते को बचाता है, हारे हुए को हिम्मत वधाता है और अलग-अलग क्षेत्र मे कार्य प्रसगवश रहते या बसते हुए भी दोनो प्रेमप्रवाह से एकमय रहते हैं। एक दूसरे के विकासमार्ग मे भी वे आधारभूत बनते है। सहोदर के बिना सभी सुख शून्यवत् लगते है । भ्रातृसेव्य रामचन्द्र जी ने सहोदर (लक्ष्मण और भरत) मीठी छाया का जो चित्र खीचा है, वह अद्वितीय, अप्रतिम और अनुभवपूर्ण है। सहोदर के स्नेह के सामने राज्यसुख या विपत्तियो के वादल भी तुच्छ और नगण्य मालूम होते होते हैं।

आधुनिक परिस्थिति

आज के बन्धुओ पर दृष्टिपात करें तो मालूम होगा कि उसके हृदय सरोवर मे स्नेह का सलिल सूख गया है। आज तो भाई-भाई के हृदय मे कलह के काटे गडे हुए है। आँखो मे ईर्ष्या की आग सुलग रही है। एक दूसरे के रास्ते अलग-अलग हो गए हैं। एक भाई करोडो की सम्पत्ति

का मालिक बन कर मोटरों मे बैठकर सैरसपाटे करता है तो दूसरा फटे-हाल बन कर दर-दर का भिकारी बना हुआ है। उसे दो जून खाने को अन्न नही मिलता, फिर भी उसे देख कर धनिक भाई का हृदय अनुकम्पा या स्नेह से द्रवित नही होता। उल्टे, "उसके धधे ही ऐसे है, सीधी राह चलना ही नही, चखे अपने किए का फल !" इस प्रकार पाषाणसम कठोर वचन उसके मुंह से अपने निर्धन भाई के लिए निकलते है। समानस्थिति वाले भाई भी परस्पर स्नेह रखते हो, ऐसा भी क्वचित् ही नजर आता है। लोकलज्जा से कभी मिलते जरूर है, साथ भी रह लेते है, परन्तु एक-दूसरे के प्रति हार्दिक प्रसन्नता और भावनाएं कुण्ठित हुई नजर आती है।

इसका कारण और उपाय

एकाएक ऐसा हो जाने का कारण कलियुग या भाग्य आदि नही है, किन्तु है स्वार्थ की अतिमात्रा। विश्वविशाल प्रेम का आधार स्थल अन्त करण ज्यो-ज्यो सकुचित हो जाता है, त्यो-त्यो विकृति का जोर फैलता जाता है, और अन्त मे वही प्रेमामृत राग या ममत्व के विष के रुप मे परिणत हो जाता है। और अपने ही स्वार्थ मे सीमित होने वाला अन्त करण, विकृत होकर क्रमश देव, मानव, पशु की भूमिका से उतरता-उतरता पिशाच की भूमिका पर आरूढ हो जाता है। अपनी स्वार्थन्धता को पुष्ट करने के लिए मनुष्य अपनी आशाओ और इच्छाओ की तृप्ती की मृगमरीचिका के पीछे दौडता है, उस समय उसे अपने कर्तव्यक्षेत्र का भान ना रहना स्वाभाविक है। इस स्वार्थ की अतिमात्रा ही ने धर्म, नीति और कर्तव्य की जड पर कुठाराघात करके चेतन मानव को जड-सा निष्ठुर बना दिया है। इसीने भारतीय सस्कृति को रसातल मे पहुचाया है।

इस स्वार्थमात्रा साथ विलासवृति की तेज रफ्तार जबसे मिली है तबसे तो पाप की पराकाष्ठा हो रही है। सारे कुटुम्ब का थोडे-से

खर्च से जहाँ काम चलता था, वहाँ आज एक व्यक्ति की सामान्य जरूरतो पर उतने खर्च से काम नही चलता, दूसरी ओर बेकारी का भूत भी लगा है। इन और ऐसे ही अन्य कारणो से भ्रातृस्नेह के स्रोत सूखने का श्रीगणेश हो गया है।

इसके निवारण का उपाय है सयमवृति। सयमवृति से ज्यो-ज्यों खर्च घटता जायेगा, त्यो-त्यो पाप भी घटेगा। और इसके साथ ही धार्मिकवृति और कर्तव्यपरायणता भी बढेगी। उसी समय माता-पिता की सेवा सहोदर के प्रति स्नेहधारा का प्रवाह फूट निकलेगा, कुटुम्ब, समाज और राष्ट्र के प्रति प्रेम की बाढ भी आ जायेगी। तब और तभी प्राचीन इतिहास मे अकित भारतीय गृहस्थाश्रम के आदर्श भावनामय चित्र घर-घर प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होगे।

भाई-बहिन

बहन का भाई के प्रति कितना स्नेह होता है, यह तो उसकी प्रत्येक क्रिया से परिलक्षित होता है। बचपन से ही हृदय मे भाई का स्थान जड जमा लेता है। उम्र बढने के साथ-साथ उसका स्नेह गाढ होता जाता है और पितृगृह छोडकर जब वह ससुराल चली जाती है, फिर भी उसका स्नेह पूर्ववत् अखण्ड रहता है। बहन अपने सहोदर का सदा और सतत हित चाहती है और प्रसग आने पर वह अपने भाई की सेवा करने के लिए तत्पर रहती है। यह है भगिनी का भाई के प्रति प्रशस्त स्नेह।

बहन की तरह भाई का भी अपनी बहन के प्रति प्रेम होता ही है। पुरुष और स्त्री के स्वभाव और सद्गुणो की खासियत के कारण भले ही उनका कार्यक्षेत्र पृथक हो, बहन पर दु ख और आफत आ पडी हो, उस समय भाई उसे दूर करने के लिए तन-मन से तैयार रहता है। कई दफा माता-पिता अपने कर्तव्य से च्युत हो रहे हो, तब भाई माता-पिता के विरुद्ध सत्याग्रह, करके भी बहन का हित साधता है। बहन की गरीबी या तग हालत मे स्वयं उदारता करके उसे पूरा सहयोग भाई

देता है। इस प्रकार भाई-बहन के प्रेम का जीवन पर्यन्त विनिमय होता रहता है।

भारतीय इतिहास मे ऐसे उदाहरण कम नहीं हैं, जहाँ बहनो ने भाइयो के लिए और भाइयो ने अपनी बहनो के लिए अपना सर्वस्व धन और सुख न्यौछावर न किया हो।

परन्तु आज भाई-बहन के बीच स्नेह प्रवाह सूखने लग गये हैं। कर्तव्य च्युत होने पर ऐसा होना स्वाभाविक है। मगर आदर्श गृहस्थाश्रम की वाटिका को हरीभरी रखने के लिए ऐसी मधुरस्नेह सरिता की नितान्त आवश्यकता है।

भाभी और देवर

विधाता ने मातृहृदय की रचना करके हाथ धो डाले हैं। आदर्श भाभी का अन्त करण भी माता के बाद अद्वितीय है। मानव हृदय मे माता का स्थान तो सर्वोपरि है ही, परन्तु उसके बाद मातृभाव वर्पण करने वाली एकमात्र भाभी है। बडी भाभी माता का ही प्रतीक है। वह मातृविरह को भूलाने वाली जननी है, देवर के प्रति अन्तकरण मे वात्सल्य-धारा बहाने वाली है। अनेक भाभियो ने अपने छोटे देवरो को उनकी माताओ के वियोग होने पर अपनी दुग्धसुधा पिलाकर जिलाए है, पाले है, पोसे हैं। उसका स्नेह वाणी से अगम्य है।

भाभी के प्रति

जैसे भाभी का हृदय मातृवात्सल्य से परिपूर्ण होता है, वैसे देवर के अन्त करण मे भी अपनी भाभी के प्रति पूज्यभाव प्रबलतर होता है। कई मानो मे तो अपने भाई की अपेक्षा भी उसे अपनी भाभी के प्रति विशेष प्रेम होता है। उसके वचन को झेलने और क्रियान्वित करने मे वह अपनी कृतार्थता समझता है। भाभी की बीमारी या अन्य प्रसगो पर सेवा करने की उसकी भावना अखण्ड रहती है। उसके अन्तर मे यही ध्वनि होती है कि "मैं भाभी को क्या दू ? उसके उपकार का बदला

कैसे चुकाऊँ ?" वीर लक्ष्मण का अपने भाई व भाभी—श्रीराम और सीतादेवी की सेवा मे—राजसुख और मातृसुख छोड़कर भी—उपस्थित रहना, इसका ज्वलत उदाहरण है।

परन्तु आज तो भाभी और देवर के स्नेहस्रोत सूखे हुए नजर आते है। मातृसमा भाभी अपने छोटे देवर के प्रति निष्ठुर हो जाती है और चट से अपने पति को कह देती है—"वह कमाता कहा है ? उसका बोझ अपने सिर पर क्यो ?" इसी प्रकार देवर की भी अपनी भाभी के प्रति मातृप्रेम, भक्ति या सहानुभूति नही दिखाई देती। भाभी के वैधव्यजीवन मे आनेवाले दु ख मे देवर सहायक नही होता। इन सबका मूलकारण है—तुच्छ सकुचित स्वार्थवृति, जो मनुष्य मे कर्तव्यभ्रष्टता पैदा करती है।

ननंद-भौजाई

एक बालिका का अपने भाई के प्रति जो प्रेम प्रवाह वहता है, उसमे भाभी भी पूरी हिस्सेदार है। भाई के घर मे भाभी के आने के सुखद स्वप्न वह सजोती है। बचपन मे वह भाभी के लाड-प्यार चाहती है, वयस्क होने के बाद भाभी की अमृतदृष्टि, क्योकि उसके पितृगृह के स्नेह को सतत चालू रखने वाली सरिता भाभी ही है। वही भाई के घर की स्वामिनी है। भाभी की दृष्टि फिरते ही उसे पीहर मे रहना कठिन हो जाय ! ननद और भाभी दोनो भिन्न-भिन्न घर मे जन्मी होने पर भी सगी बहनो का सा उनका स्नेह होता है। जैसे भाभी पराये घर से आई है, वैसे मुझे भी पराये घर जाना है, यो हमेशा सयानी ननद समझती है। बस, इन दोनो का सच्चा स्नेह टिके रहने का रहस्य इसी प्रकार की समान स्थिति है।

वर्तमान परिस्थिति

परन्तु आज स्थिति इससे विपरीत है। भाभी यह समझती है कि "ननद थोडे दिनो की महमान है आखिर तो इसे अपने श्वसुरालय में

जाना है', फिर भी वह उतने समय तक स्नेह नहीं रख सकती। अपने पति का अपनी ननद के प्रति स्नेह हो तो उसे वह सहन नहीं कर सकती। ननद को दी जाने वाली वस्तु मेरे घर में से कम हो जाती है, इस प्रकार की भाभी की स्वार्थवृत्ति इस स्नेह के मार्ग में कांटे बिछाती है।

जिस प्रकार भाभी में कर्तव्यपरायणता की कमी है, उसी प्रकार ननन्द में भी होती है भाभी के विवाह करके घर में प्रवेश करते ही ननन्द बाई अपनी भाभी पर हुक्म चलाने लग जाती है, समवयस्क हो तो कामकाज में ईर्ष्या भी करती है। भाई उसकी भाभी के प्रति अधिक स्नेहशील बने तो भी उसे सहन नहीं होता। इस प्रकार अपनी भाभी के साथ द्वेष, ईर्ष्या या वैरवृत्ति रखकर अपनी मा या भाई के सामने भाभी की चुगली खाती है, और स्याह सफेद करके भाई और भाभी के तथा सासू और बहु के बीच कलह पैदा कर देती है। प्रसगवश ताने भी कसती है। भाभी दुःखी हो तो वह प्रसन्न होती है। स्त्रीजाति की इस प्रकार की पारस्परिक ईर्ष्या ही उभयपात्र और गृहस्थजीवन के लिए दुःखरूप बनती है। ननन्द-भाभी का आपसी वैमनस्य भविष्य में उनके ही लिए सिरदर्द बन जाता है, इसका भान दोनों को इस समय नहीं होता।

ननन्द का कर्त्तव्य

ननन्द छोटी हो या बडी उसे समझ लेना चाहिए कि पीहर का घर उसके लिए ससार मे मीठी छाया देने वाला वृक्ष है। भाभी और भाई उसी वृक्ष की डाली और फल है। उनका जितना अधिक स्नेह होगा, उतना ही अधिक लाभ उस वृक्ष की छाया का मिलेगा। यो सोच कर स्वय बडी हो तो उसे अपनी नई भाभी की भूलें पीकर मधुर हित शिक्षा देकर सुधारने का प्रयत्न करना चाहिए। तभी दोनो का प्रेम दिनोदिन पल्लवित-पुष्पित होगा। अगर ननन्द छोटी हो तो उसे भाभी के कार्य मे सहायक बन कर उसकी सेवा करनी चाहिए, उससे उपयोगी

शिक्षण लेना और उसके प्रति स्नेभाव रखना चाहिए। ननन्द और भाभी दोनो सगी बहनो की तरह रहे तो कुटुम्ब मे वे स्नेह और ऐक्य की सरिता बहा सकती है।

सारांश

सभी अगो को इन सब बातो मे अपने-अपने कर्तव्यो मे परायण रहना जरूरी है। इनमे से एक भी अग जब अपना कर्तव्य चूक कर स्वार्थ की ओर झुकता है, तब सामने वाला पात्र भी उतना या उससे भी अधिक स्वार्थी और अकर्मण्य बन जाता है। इसमे जो अग ज्यादा उम्र का हो उसकी जिम्मेदारी विशेष बढ जाती है। समग्र कुटुम्ब मे स्नेहभाव टिकाये रखने मे पद-पद पर गम खाने, सहनशीलता दिखाने व स्वार्थत्याग करने की सबसे ज्यादा और सर्वप्रथम आवश्यकता है।

देवरानी-जिठानी के कर्तव्य

जैसे कुटुम्ब के पोषण के लिए द्रव्यादि प्राप्त करने और गृह-व्यवहार चलाने मे एक भाई को दूसरे भाई की आवश्यकता होती है, वैसे ही गृह-कार्य के आन्तरिक बोझ को बाटने के लिए जिठानी को भी देवरानी के सहयोग की आवश्यकता रहती है।

जैसे सासू के मन अपनी पुत्रवधू को लाने का मनोरथ होता है, वैसे ही, जिठानी के मन मे अपने छोटे देवर को विवाहित करके देवरानी लाने का उत्साह होता है, साथ ही वह यह भी सोचती है कि मेरी छोटी वहन के आजाने से मेरे कार्य मे सरलता रहेगी।

वर्तमान परस्थिति

आज तो अनेक स्थलो से आपसी स्नेह विदाई ले चुका है, वल्कि जव दोनो मिलती है, या एकत्र रहती है तभी से दोनो के बीच महाभारत शुरू हो जाता है। देवरानी कहती है—"सासू मुझसे इतना काम लेती है, जिठानी से क्यो नही ?" और जिठानी कहती है— "सासू का देवरानी के प्रति इतना प्रेम है, मुझ पर क्यो नही ? क्या वही अकेली लाडली है या ज्यादा दहेज लाई है ? खाने पीने मे मुझे वह वस्तु नही मिली, उसे वह चीज क्यो मिली ?" आदि वातो द्वारा प्रतिस्पर्द्धा होती रहती है। एक छोटी-सी चूडी से लेकर स्वर्ण तथा रत्न के आभूषणो तक तथा पोशाक मे भी दोनो की तू-तू, मैं-मैं चलती रहती है। 'मेरा पति अधिक कमाता है, ज्यादा मेहनत करता है, फिर जिठानी या देवरानी को एक सरीखे अलकार क्यो मिले ?' यो प्रत्येक छोटी-सी तुच्छ वात से

लेकर बडी बात तक मे ईर्ष्यालु प्रकृति के कारण वे अन्तर में जला करती है।

नन्हे बालको को खिलौने या खाने-पीने की चीजो को देने पर एक-दूसरे की अहवृत्ति का प्रदर्शन होता है और किसी को कम या ज्यादा दे देने पर उसकी माता को मालूम पडते ही गुर्राने लगती है। लडके खेलते-खेलते आपस मे लड पडें तो उनकी माताए भी उनका पक्ष लेकर आपस मे लड पडती है, यह झगडा यही तक सीमित नही रहता अपितु पुरुपो तक पहुँच जाता है, क्योकि दोनो प्रतिदिन अपने-अपने पति के पास नई-नई खबरें बढा-चढाकर सुनाती रहती है और इस सफाई के साथ, सिसकते हुए कि पति के दिमाग मे उनकी बात किसी दिन सच्ची ठस जाती है और भाग्यवश कोई प्रत्यक्ष निमित्त मिल जाय, फिर तो पूछना ही क्या ? दोनो सहोदरो के स्नेह को तुच्छ बातो मे जलाकर खाक बनाने मे ये दोनो स्त्रियाँ निमित्त बनती है।

फलत भाई-भाई के बीच मारपीट, गालीगलौज और हाथापाई होती देखी जाती है, इससे आगे वढकर दोनो न्यायालयो के द्वार खट-खटाते है। इन सबका मूल कारण उन दोनो की पत्नियाँ होती है।

जहाँ तक दोनो भाइयो का विवाह न हुआ हो, वहाँ तक दोनो का स्नेह गाढ होता है। एक भाभी आने के बाद कही-कही कुछ कम या पूर्ववत् स्नेह बना रहता है, किन्तु दोनो भाइयो के विवाहित हो जाने पर थोडे ही समय मे उन्हे अलग हुए बिना चलता नही। देवरानी-जिठानी के झगडे मे माता-पिता की अत्यन्त दुर्दशा हो जाती है। स्नेह सपत्ति और माता-पिता की सेवा, ये तीन उच्च वस्तुएँ जहाँ गृहस्थाश्रम मे अत्यन्त आवश्यक है, वहाँ ये गृहलक्ष्मियाँ इन्हे अपने हाथो उखाड़ फैंक देती है, यह कितना दुर्भाग्य है ?

इस स्थिति का कारण और उपाय

इस झगडे के मूल कारण सासू की कार्यदक्षता मे कमी या वहुओं

मे असमानता है। अगर देवरानी-जिठानी दोनो परस्पर भगिनीभाव या सखीभाव से रहे और समझदारीपूर्वक ऐसे कटुप्रसगो को टाले, देवरानी जिठानी को, वह चाहे जैसी हो फिर भी, अपनी बडी बहन (जीजी) के समान मान कर उसके प्रति पूज्यभाव रखे, सविनय व्यवहार करे और जिठानी अपनी देवरानी के प्रति उदार और प्रेमल बने तो बहुत जल्दी मन समाधान हो सकता है और गृहस्थाश्रम सरल और सुखद बन सकता है। गहने, सम्पत्ति अथवा खाने-पीने की चीजें स्नेह के आगे बिल्कुल तुच्छ है, इस वस्तु को दोनो यथार्थरूप मे समझ लें तो कुटुम्ब-कलह शीघ्र समाप्त हो सकता है। भाई-भाई के आपसी मनमुटाव के कारण अलग-अलग रसोई और घर के पीछे प्रत्येक कुटुम्ब को ४-५ गुना नुकसान आर्थिक दृष्टि से सहना पडता है। सारा कुटुम्ब एक साथ रहे तो आर्थिक दृष्टि से काफी लाभ होता ही है, साथ ही परस्पर के सहकार से चाहे जितना बडा काम हो सहज साध्य और कम समय मे निपट जाता है। और उस कुटुम्ब की शक्ति वृद्धिगत होकर अन्य कुटुम्ब, समाज और राष्ट्र को उपयोगी हो सकती है।

अनबन के कारण अलग होने से जो आर्थिक हानि होती है, उसकी पूर्ति के लिए गरीब कुटुम्ब को बेकारी की चक्की मे पिसना पडता है या अनैतिक कार्य करने पडते है। फलत, कौटुम्बिक, सामाजिक और धार्मिक सभी दृष्टियो से यह घाटे का सौदा है।

मित्रों के परस्पर कर्त्तव्य

बालक जब जन्म लेता है तब माता उसकी सहायक होती है। बाद मे पिता, शिक्षक, स्त्री और फिर क्रमश सहायक क्षेत्र बढते-बढते कुटुम्ब, समाज, राष्ट्र और विश्व तक पहुँच जाता है। परन्तु मानव जीवन के विभिन्न कार्यों मे विभिन्न सहायको मे से मित्र भी एक ऐसा सहायक अग है जो बाल्यकाल से मृत्युपर्यन्त साथ रहता है। यद्यपि मित्रता का वह उम्मीदवार ठेठ तक एक-सरीखा ही रहता है या उसकी मित्रता एक पात्र मे ही टिकी रहती है, यह कोई निश्चित नही है। परन्तु एक बात तो साफ है कि छोटे-से लेकर बडे तक सभी मित्र चाहते है और मित्र की जीवन मे अनिवार्य जरूरत भी महसूस करते है।

गृहस्थ का जो बोझ उसके सगे-सम्बन्धी, स्त्री या पुत्र उतार नही सकते, उसे एक मित्र उतार सकता है। चिन्ता और दु ख मे मित्र एक प्रबल आश्वासन का स्थान है। तथैव सुख और शाति के स्थल मे भी मित्र की सहायता की आवश्यकता रहती है। आनन्द व्यक्त करने के लिये भी मित्र का अभाव खटकता है। विशेपत विचारो के आदान-प्रदान करने के लिए तो प्रत्येक मनुष्य को एक सच्चे मित्र की आवश्यकता रहती है। जिसके ऐसा मित्र नही होता, उसे अन्य सुख भी फीके लगते है। विचार-विनिमय होने से मनुष्य को एक बहुत बड़ी राहत मिलती है, उसका ध्येय सुरक्षित रहता है।

मित्रता का मूल

किसी से मैत्री होने का मूल कारण समानता है। बचपन मे उम्र की समानता से मित्रता होती है। जरा बडे होने के बाद साथ-साथ

खेलने-कूदने और समान आदतो से वह मित्रता टिकती है, बाद मे सह-शिक्षण से वह फलती-फूलती है और समान विचारो से वह बढती रहती है ।

मित्र पद की जिम्मेवारी

'जैसा सग वैसा रग' इस वाक्य मे गहरा रहस्य है । सचमुच जिसके ससर्ग मे या जिस वातावरण मे मनुष्य रहता है, धीरे-धीरे वह वैसा ही बनता जाता है । माता-पिता द्वारा उच्चसस्कारो से पोषित बालक भी कुसग के कारण हल्की खासियत का बन जाता है । अत अपरिपक्व-बुद्धिवाले बालक को माता-पिता उच्च भावनावाले बालको के ससर्ग मे रखें । बाद मे परिपक्व हो जाने पर तो वह स्वय गुण दोष की कसौटी करके मित्र पद के योग्य व्यक्ति को ढूढ सकता है । परन्तु जब तक खुद का उतना विकास न हुआ हो या मित्र ढूढने की योग्यता न हुई हो, या जब तक वैसा मित्र न मिले तब तक बिना मित्र के रहना अच्छा, किन्तु दुर्गुणी मित्र बनाना कदापि ठीक नही ।

मित्र के सद्‌गुण

मित्र बनाने से पहले उसमे नीचे लिखे गुणो की जाच पडताल कर लेनी चाहिए — १ उसमें उच्चसंस्कारिता और सद्‌विचार हो । क्योकि इन दोनो गुणो वाला मित्र बुरी आदतो और हल्की खासियतों से बचा सकता है तथा नीति-भग या आत्मपतन होने के मौके पर सद्‌विचारो द्वारा मोड सकता है । २ वह दृढ निश्चयी हो । दृढ निश्चयी मित्र विपत्ति, सम्पत्ति, सुख-दु ख या अच्छी-बुरी परिस्थिति मे भी मित्रता को निभा सकता है । ३ वह नि स्वार्थी हो । नि स्वार्थी मित्र धन या अन्य किसी स्वार्थवश मैत्री नही करता, जिससे उसकी नि स्वार्थ मैत्री चिरस्थायी रहती है और फलप्रद भी होती है । ४ वह उदार हो । वह चाहे भिन्न जाति या भिन्न धर्म-सम्प्रदाय का हो, परन्तु

उदार प्रकृति का होगा तो स्वय कष्ट सहकर भी मित्र के अन्त करण को सन्तुष्ट कर सकेगा। इन चार गुणो से अलकृत हो, वही सच्चा मित्र और मित्रता का सच्चा पात्र होने योग्य है।

ऐसे सच्चे मित्रो के उदाहरण कम नही हैं, जिन्होने अपने मित्र के लिए अपनी सर्वस्व सपत्ति होम दी हो, अपने मित्र का दु ख अपने सिर पर ले लिया हो या अपने मित्र के लिए मृत्यु का आलिगन करने को तैयार रहे हो, चापराज हाडा और पहाडसिंह की मित्रता इसका ज्वलत उदाहरण है।

मित्रता के दूषण

१. **दुर्व्यसन**—महाव्यसन सात प्रकार के है—जुआ, शराव, ताडी, और चाय-बीडी, मासभोजित्व, व्यभिचार, अतिविलास, चोरी, और पाप युक्त कमाई। ये सातो या इनमे से कोई दुर्व्यसन जिस मित्र मे होते हैं, वह मित्र स्वय भी डूबता है और अपने मित्र को भी डूबोता है।

२ **अनिश्चितता**—जिस मित्र के विचार निश्चित नही हैं, या जो जबान का पक्का नही है, या जो अवसरवादी है, 'क्षणे रुष्ट क्षणे तुष्ट' की वृत्ति वाला है, वह दुर्बल मन का मित्र अपने मित्र की दु खी स्थिति मे टिक नही सकता।

३ **अविश्वस्त**—मित्र का चरित्र इतना विश्वस्त व उच्च होना चाहिए कि जिसके सामने मित्र अपना दिल खोल सके, अपनी गूढ बातो का समाधान पा सके और उसकी कहीं त्रुटि हो तो सुधार सके।

आज की मित्रता स्वार्थ, कुटेव और स्वच्छन्दता के दुगुण मे से प्रगट होती अनेक जगह दिखाई देती है। सच्ची मित्रभावना तो सारे विश्व को वश मे कर सकती है। मित्रता के दूषण से रहित और सद्‌गुणो से युक्त सन्मित्र ससार की सबसे बडी उपयोगी वस्तु है। ऐसी निःस्वार्थी और विशुद्ध मित्रता के विकास की आज अत्यन्त आवश्यकता है, क्योकि यही एक गृहस्थाश्रमी को मुक्ति के उच्च शिखर पर चढा सकती है।

बुजुर्ग और जवान

इस प्रकरण मे बुजुर्गों और जवानो के बीच पारस्परिक कर्त्तव्य विचारणीय है। बुजुर्गों मे पुरुष वर्ग मे से जवानो के मामा, काका, बाबा और दादा ये और स्त्री वर्ग मे काकी, मामी, बडी माँ, और दादी आदि का समावेश होता है। जैसे माता-पिता, भाई आदि के प्रति कर्त्तव्य पालन करना होता है, अन्यथा उनमे रही हुई त्रुटियाँ गृहस्थाश्रम की मधुरशान्ति मे विक्षेप पैदा करती है, वैसा ही बुजुर्गों और जवानो के पारस्परिक कर्त्तव्यो के बारे मे भी समझना चाहिए।

मामा का कुटुम्ब

मामा का घर ननिहाल कहलाता है। मामा और मामी का भानजे के प्रति वात्सल्य भी पुत्रवत् होता है। भानजे का भी अपने ननिहाल का खूब आकर्षण होता है। जब जब वह अपने ननिहाल जाता है, तब तब उसे देखते ही नाना-नानी खूब हर्षित होते है, लाडप्यार करते है, अच्छा भोजन खिलाते है। ननिहाल का सारा गाँव उसे भानजा कह कर पुकारता है और स्नेह रखता है। बाल्यकाल मे जिस ननिहाल का भानजे पर अतिप्रेम और उपकार रहा, उस ऋण को चुकाने के लिए जवानी मे तैयार रहना भानजे का कर्त्तव्य है। स्वय सुखी हो तो अपने ननिहाल के कुटुम्ब को आर्थिक मदद और वैचारिक सहयोग देना भी उसका अनिवार्य कर्त्तव्य है।

काका-काकी

पिता के भाई काका या चाचा कहलाते है, उनका भी अपने भतीजो पर सतान-सा प्रेम होता है। स्वय के सतान न हो वहाँ तक तो अपने

भाई के पुत्रो पर प्रेम रहता ही है, परन्तु बाद में यह प्रेम कम होता जाता है। यद्यपि काका-काकी का स्वल्प प्रेम भतीजे को सहाय विहीन नही बनाता, क्योकि उस अपूर्णता की पूर्ति उसके वात्सल्य भडार माता-पिता कर सकते है। परन्तु अगर काका-काकी का यह अल्पस्नेह अपने और अपने भाई के लडको के बीच असमानता का रूप ले ले, तब तो वह भाई-भाई और देवरानी-जिठानी के बीच कलह का निमित्त बन जाता है। इस दु स्थिति से बचने के लिए उन्हे अपने भतीजे के प्रति भी सदा पुत्रभाव रखना चाहिए, जिससे उनकी वृद्धावस्था मे वह स्नेह उनके प्रति भक्तिवर्द्धक बने और वह जवान भी प्रसग आने पर काका-काकी की माता-पिता-तुल्य सेवा कर सके। इस सम्बन्ध मे काका और मामा की अपेक्षा काकी और मामी का विशेष कर्त्तव्य है कि वे बाल्यकाल से ही इन बालको पर वात्सल्य बहाती रहे।

मासी और फूफी

माता की बहन मासी या मौसी कहलाती है। अपनी बहन की सतान पर स्वाभाविक स्नेह होता ही है। वह अपनी ससुराल जाने पर भी इस भगिनी स्नेह परपरा को बनाए रखती है। इतना ही नही अपने पति को भी अपनी बहन के कुटुम्ब के प्रति स्नेहयुक्त बनाती है। मासी के बालक भी परस्पर भाई-बहन का नाता रखते हैं।

फूफी का स्नेह अपने भाई के पुत्रो पर अधिक ही होता है। भतीजे के जन्म होते ही वह सहर्ष दौड आती है। भतीजे का नाम भी फूफी की सम्मति से रखा जाता है। फूफी के बालको का स्नेह भी उनके ननिहाल के नाते अपने भ्रातृपुत्रो के साथ खूब गाढ होता है।

परन्तु इन सबका मिलन क्वचित् ही होता है। मासी तो ननिहाल मे किसी विशेष प्रसग पर मिलती है, पर फूफी और उसका कुटुम्ब तो कई बार मिलते है। जिस प्रकार फूफी और मौसी का प्रेम अपने भतीजे

व भानजे पर होता है, वैसे ही उनके कुटुम्ब पर भतीजा व भानजा कहलाने वाले को प्रेम-व्यवहार रखना चाहिए ।

नाना-नानी और दादा-दादी

नाना और नानी ननिहाल के तथा दादा और दादी अपने घर के मुख्य पात्र होते है । वृद्धो का स्नेह बालको पर अत्यन्त होता है, इस मे कोई आश्चर्य नही, क्योकि अपने पुत्री-पुत्रो की अपेक्षा अपने पौत्र-पौत्रियो व दौहित्र-दौहित्रीओ के प्रति स्वाभाविक ही विशेष आकर्षण होता है । यह आकर्षण कभी-कभी इसलिए भी होता है कि उनके खुद के पुत्र उनकी बात न मानते हो या उनकी उपेक्षा करते हो । कुछ भी हो उनके दिल मे नन्हे बालको के प्रति विशेष स्नेह होता ही है । अत उन्हे अपने कर्त्तव्य समझाने की अपेक्षा, उनके प्रति बालको का कर्त्तव्य सुझाना जरूरी है । वयोवृद्धो की सेवा करना यह तो उनका प्रथम कर्त्तव्य है ही। अपने माता-पिता, दादा-दादी के प्रति अदा किए जाने वाले कर्त्तव्यो से कदाचित् चूकते हो तो युवक और उसकी पत्नी को विनयपूर्वक अपने माता-पिता को समझाना चाहिए और यथाशक्ति तन, मन और धन से उन्हे सहयोग देना चाहिए।

साराश यह है कि काका-काकी, मामा-मामी, मासी-फूफी, नाना-नानी, दादा-दादी और अन्य बुजुर्गो के प्रति आदरपूर्वक व्यवहार करना प्रत्येक दम्पती का पवित्र कर्त्तव्य है ।

बुजुर्गो और युवको में मतभेद के कारण और निवारण

भारत मे आज नया युग आया है । इसके साथ-साथ दुनिया विज्ञान के सहयोग मे अत्यन्त नजदीक आ गई है, इस कारण एक राष्ट्र की घटनाओ और विचारो का प्रभाव दूसरे राष्ट्र पर पडे विना नही रहता । युवक नये जमाने की हवा मे पला पुसा हैं, इसलिए उसके दिमाग में समाज, धर्म और राष्ट्र के नाम से दभ, दकियानूसी, पिछडापन और

अन्धविश्वासो को एक झटके मे उखाड फैंकने के तूफानी विचार है, धर्मतत्त्व को वह वास्तव जीवन में सक्रिय देखना चाहता है। समाज में चलने वाली कुरुढियो, राष्ट्रीय अज्ञानता और धर्म कानून से जकडे हुए वह वृद्धो को देखता है, तव उसे ग्लानि होती है, वह उन्हे समझाने का प्रयत्न करता है, पर बूढे उसे नास्तिक कह कर सजीदगी से उसके साथ पेश नही आते, उसकी वात को ठुकरा देते है। वस, यही असतोष युवको के मतभेद का कारण है। ये विचारो के द्वन्द्व ही आगे जाकर व्यवहार और कार्य के मैदान मे आ धमकते है, और घर-घर में धमाचौकडी शुरू होती है। दोनो के बीच चलने वाला यह तीव्र असतोष ही दोनो को कई बार कर्त्तव्यच्युत कर देता है। इस मौके पर प्रेम, उदारता, क्षमा और सयम से काम लेकर पुराने रूढ विचारो वालो मे नए विचार और भाव धीरे-धीरे प्रविष्ट करने चाहिए।

बुजुर्गो को विचार सहिष्णुता तो रखनी ही चाहिए, वल्कि जहाँ-जहाँ युवक भूल करते हो, वहाँ स्नेहभाव से सच्चे विचार समझा कर उसे सुधारनी चाहिए। तथा अपनी पकडी हुई कुरूढि या परम्परागत सस्कारो को कठिनाई सह कर भी दूर करने चाहिए। युवको को चाहिए कि वे अपने विचार प्रगट करते समय धैर्य और उत्साह कायम रखें। बुजुर्ग अगर न मानें तो सविनय मीठे सत्याग्रह से उनके गले वह वात उतारें। वे अगर उनकी वात समझ न सकते हो तो धीरे-धीरे स्नेह और धैर्य के साथ उन्हे समझाने का प्रयत्न करें। जो कार्य धैर्य, सतोप, स्नेह और विनय से साध्य है, वह दूसरे गुणो से साध्य नही। प्रत्येक क्रिया में विवेक अति उत्तम व उपयोगी वस्तु है, उसका हर काम मे रचनात्मक उपयोग होना चाहिए। प्राचीन वस्तुएँ खराव नही है, धर्म भी बुरा नही, परन्तु उसके रक्षको मे दोष आ गए है, अत: उनका दोषा-रोपण दूसरी वस्तु पर नही डालना चाहिए। बुजुर्गो के सहयोग के विना सागोपाग कार्यसिद्धि नही हो सकती। बुजुर्ग भूल करते हो तो उसमे समाज के प्राचीन सस्कारो का ही विशेप दोप है। वे वेचारे प्राय,

अशिक्षित और अनजान होने से उस बात को समझ नहीं सकते। अतः ऐसी दशा में युवकों का फर्ज उनके बजाय अधिक बढ़ जाता है। बुजुर्गों का तिरस्कार करके स्वच्छन्दीप्रवाह में बह जाना अत्यन्त हानिकारक है। स्वच्छन्दी वृत्ति से तो राष्ट्र और आत्मा का पतन है। कोरी शिक्षा से स्वच्छन्दता नहीं रुकती। उसके साथ-साथ सुदृढ़ संस्कार और परिपक्व अनुभव की आवश्यकता है। उपर्युक्त बातों को युवक लक्ष्य में रखें और बुजुर्ग युग को पहिचान कर उनसे कार्य लेना सीखें तो गृहस्थाश्रम से सम्बन्धित अनेक अटपटे प्रश्न मिनटों में हल हो सकते हैं। अन्यथा, दोनों का व्यक्तिगत कलह अपनी सीमा को लाघ कर समाज और राष्ट्र को भी उन्नति के अवसरों से वंचित कर देता है।

दामाद और सास-सुसर

अपनी पुत्री पर जितना माता-पिता का प्रेम होता है उससे भी अधिक अपने दामाद पर सास-ससुर का होता है, क्योंकि अपनी पुत्री का वह अर्धांग है, स्वामी है, अद्वितीय प्रेमपात्र है, सुख का स्थान है, सौभाग्य कारण है। अतः अपना दामाद स्वस्थ और सुखी रहे ऐसी शुभाकांक्षा उसके प्रति उनकी होती है। कई बार तो पुत्र की अपेक्षा भी दामाद को वे अधिक चाहते हैं। उसके प्रति उनकी उदारभावना जागती है कि कुछ न कुछ इसे घर में से दे दें। दामाद की अच्छी स्थिति देखकर उनका हृदय हर्ष से पुलकित हो जाता है। यह प्रेम पति-पत्नी के प्रेम में सहायक और वृद्धिकर होता है।

इस प्रेम को प्रशस्तरूप से चालू रखना सास-ससुर का कर्त्तव्य है। परन्तु कई बार अपनी पुत्री के प्रति ममत्व या स्वार्थ से सास-ससुर का अतिस्नेह दामाद को स्नेहान्ध बना देता है। श्वसुरगृहासक्त युवक अपने कुटुम्ब के प्रति अदा किए जाने वाले कर्त्तव्यों से कई बार भ्रष्ट हो जाता है। कई सास-ससुर अपने यहाँ घर जमाई रखकर या दामाद को निस्प्रयोजन बहुत-सा धन देकर आलसी, अपढ और विलासी बना देते

है । अत सास-ससुर को इन सब बातो मे खूब सावधान रहना चाहिए । वे अपने दामाद के माता-पिता तुल्य है, इसलिए कर्त्तव्य भ्रष्ट होते हुए दामाद को कर्त्तव्य भान कराना उनका परमकर्त्तव्य है ।

कई बार श्वसुरकुटुम्ब पर कई दामादो को पहले से ही घृणा होती है, वह भी इतनी हद तक कि वे अपनी पत्नी को भी उसके मैके भेजने से इकार कर देते है । यह दामादो का महादूषण है । उन्हे श्वसुरकुटुम्ब के साथ मीठा और सच्चा स्नेह रखना चाहिए ।

समधियो के पारस्परिक कर्त्तव्य

इस सम्बन्ध मे समधियो को भी पारस्परिक कर्त्तव्य बजाना चाहिए । उन्हे अपने-अपने पुत्र-पुत्री को यथायोग्य हितशिक्षा देकर अपने कर्त्तव्य-धर्म मे दृढ करना चाहिए । पारस्परिक स्नेह सम्बन्धव मधुर बनाए रखने के लिए अत्यन्त लेन-देनके झमेले मे नही पडना चाहिए । और पारस्परिक हित सोचकर एक दूसरे पर आर्थिक सकट आ पडने पर आर्थिक सहायता व एक दूसरे के अच्छे-बुरे प्रसगो पर परस्पर सहानभूति पूर्वक सेवा करनी चाहिए ।

समधियो के कर्त्तव्य

समधि-समधियो के बीच कई बार विवाहादि प्रसगो पर कम ज्यादा लेने देने पर परस्पर क्लेश खडे हो जाते है, उनमे मूल कारण समधिनें होती है । "विवाह के समय बस, इतने ही लड्डू भेजे ! उसके दामाद को पगडी भी दी, समधिन के घर गए पर कुछ पूछा तक नही !" ऐसी तुच्छ बातो को स्त्रियाँ पहाड का रूप दे देती है । और घर मे बहू को ताने मारकर उसकी सासू उस वैर का बदला लेती है । और कन्या-पक्ष की समधिन अपने घर पर दामाद के आने पर उसकी मा के दोषों के गीत गाती है । "तुझ मे ही राम नही है ! तेरी तो घर मे कुछ चलती नही" इस प्रकार अपनी लडकी को उत्तेजित करके सासु-बहू मे फूट डाल देती है ।

समझदार समधिनो को अपनी सतान के हित के लिए ऐसी

कुटेवे छोड देनी चाहिए। वस्तु की अपेक्षा स्नेह ही सर्वोपरि धन है यह सोचकर परस्पर बहनो के समान स्नेह रखना चाहिए। अपनी सताने कही भूल करती हो तो उन्हे हितशिक्षा देकर उनके गृहस्थाश्रम को सुखी बनाना चाहिए।

साला-बहनोई

साला-बहनोई को आपस के आन्तरिक जीवन मे न पडकर व्यवहार-पूर्ति जितना ही कार्य रखना उचित है, जिससे उनका स्नेह स्थायी रह सके। कई बहनोइयो को अपने सालो की अत्यन्त मजाक करने की आदत पड जाती है, जो एक बडा दूषण है। साले के प्रति अपने छोटे भाई का-सा व्यवहार रखकर एक दूसरे के सहायक बनने का प्रयास करना चाहिए।

साला या बहनोई दोनो जब तक कम उम्र के होते हैं, तब तक तो व्यावहारिक बोझ उनके माता-पिता सभाल ही लेते है। बडी उम्र मे उन पर वह बोझ आता है, उस समय साले का कर्त्तव्य है कि वह अपनी बहन के हित को लक्ष्य मे रखकर पूर्वस्नेह सुरक्षित रखने के लिए उसके दु ख मे यथा-शक्ति भाग ले। और बहनोई का भी कर्त्तव्य है कि साला या उसका कुटुम्ब दु खी हो तो उसे मदद दे।

साढु-साढु

दो सगी बहनो के भिन्न-भिन्न पतियो के सम्बन्ध को 'साढु' कहा जाता है। यह सम्बन्ध भी वात्सल्यपूर्ण होता है और यह दो बहनो के प्रेम से उद्‌भूत हुआ है। अत उन दो बहनो मे जितना अधिक स्नेह होगा, उतना ही अधिक यह सम्बन्ध टिकाऊ और कार्य साधक होगा। बहुत से साढुओ मे भाई-भाई की तरह का सुन्दर स्नेह होता है और वह जीवन-पर्यन्त टिकता है।

गृहस्थाश्रम की सर्वांग पूर्णता

उपर्युक्त सभी स्वजन कहलाते है, पति और पत्नी के वैवाहिक

जीवन से ये सब स्नेह सम्बन्ध पैदा होते है और ये गृहस्थाश्रम के गहन पथ मे विश्राम के समान सुखद और सफल बनते है ।

माता, पिता, भाई, बहन, काका, काकी, दादा-दादी आदि कुटुम्बी कहलाते है, मासी, मामा-मामी, नाना-नानी, फूफी आदि के कुटुम्ब सगे-सम्बन्धी कहलाते है । मित्र, स्नेही या अन्य सम्बन्धी वर्ग स्नेही कहलाते है । इस तरह स्वजन, कुटुम्बी, सगे-सम्बन्धी और स्नेही मिलकर गृहस्थाश्रम सर्वांगी बनता है । और पूर्णता तो तभी आती है, जब पति और पत्नी के गृहस्थाश्रम से बीज उगकर स्कन्ध का वृक्ष बनेंगे और उसकी डालियो, पत्तो, फूलो और फलो के समान इन विविध सम्बन्धियो मे जितनी पूर्वोक्त कर्त्तव्य विवेचन के अनुसार स्व-स्व क्षेत्र मे कर्त्तव्य परायणता आएगी, तथा आदर्शों के प्रति दृढता और व्यवहारो मे सरलता होगी । तभी गृहस्थाश्रम सर्वांगपूर्ण होगा और उसका सुन्दर रस चखा जा सकेगा ।

कुटुम्ब-धर्म

हम यह स्पष्ट अनुभव करते हैं कि चाहे जितना साधन-सम्पन्न गृहस्थाश्रमी हो, लेकिन यदि उसका कुटुम्ब सुखमय न हो, सुख के अपार साधन हस्तगत होते हुए भी क्लेश से तप्त रहा करता हो, या स्नेहशील और परस्पर वफादार न हो, या कुटुम्ब मे एक दूसरे को सहयोगजन्य सुख न मिलता हो तो सुख के सभी साधन व्यर्थ हैं। इसका इलाज क्या है ?

कौटम्बिक सुख कैसे पैदा हो और बढ़े ?

केवल धन इकट्ठा कर लेने से कौटम्बिक सुख सभव नही है। आज का भुलक्कड मानव इस बात को जानते हुए भी धनार्जन के पीछे जितना समय और शक्ति लगाता है, उतना कुटुम्ब के निर्माण और सहकारिता के पीछे शायद ही लगाता हो। जो लोग धन की कमी को कौटुम्बिक कलह या दु ख का कारण मानते है, उन्हे यह प्रत्यक्ष अनुभव हो गया होगा कि धन की अपार वृद्धि होने पर भी प्राय कौटुम्बिक कलह या दु ख मे कमी के बजाय अधिकता ही बढती है। अगर वे इस दु ख का मूलकारण सोचें तो कुटुम्ब-निर्माण और सस्कारिता की त्रुटि ही उन्हे नजर आएगी।

कुटुम्ब निर्माण और सस्कारिता की त्रुटि को दूर करने के लिए कुटुम्ब-धर्म को ध्रुवतारे की तरह दृष्टिसमक्ष रखना होगा। अगर मनुष्य प्रारब्ध के चक्कर मे पडकर यह सोचने लगे कि प्रारब्धयोग से ही माता-पिता, भाई-बहिन आदि कुटुम्ब का मिलन हुआ है, मै इस कुटुम्ब को अच्छा या बुरा कैसे बना सकता हूँ। जो होना होगा

सो हो जायगा या ईश्वरकर्तृत्ववादी हुआ तो ईश्वर के हाथ मे है, इस प्रकार कह कर कुटुम्बधर्म या कुटुम्बनिर्माण के कार्य निरुत्साही या अकर्मण्य बन जाता है, तो नि सदेह उसका और कुटुम्ब का पतन है। इसी प्रकार एकान्त पुरुषार्थ को पकड कर असत्पुरुषार्थ करने लगे या मैं ही सब कुछ करता हूँ, मैं न होऊ तो कुटुम्ब का क्या हो ? इस प्रकार का अभिमान करने लगे, अथवा मैं स्वतत्र रहकर पुरुषार्थ कर सकता हूँ। मुझे कौटुम्बिक बन्धन या कौटुम्बिक कर्तव्यो के चक्कर मे क्यो फसना चाहिए ? यह तो पराधीनता है या मोह है, मुझे अपना ही विकास या कल्याण करना चाहिए आदि कहे तो यह भी उसका और कुटुम्ब का पतन है। क्योकि प्रारब्ध पूर्वकृत शुभ या अशुभ पुरुषार्थ का ही नाम है। विभिन्न स्थलो मे रहे हुए जीवात्माओ को कुटुम्बरूप मे एकत्रित कर देने मे ऐसा प्रारब्ध—पूर्वकृत शुभाशुभ कर्म—अवश्य कारणभूत है,मगर उस एकत्रित कुटुम्ब को सुन्दर या असुन्दर बनाना तो पुरुषार्थ के ही हाथ मे है। अत निरहकारपूर्वक क्षुद्रस्वार्थ व आसक्ति से रहित होकर कुटुम्ब धर्म मे पुरुषार्थ करना ही इसका सही उपाय है।

कुटुम्बधर्म का पालन करने के लिए तीन बाते आवश्यक हैं—कुटुम्ब का सगठन, निर्माण और सस्कारिता। कोई व्यक्ति अकेला हो, अलग-अलग रहता हो तो उससे कोई भी उच्च कार्य सिद्ध नही हो सकता। कुटुम्ब का सगठन हो तो उससे अशक्य और असाध्य कार्य भी सुशक्य और सुसाध्य हो जाता है। सगठन तभी चिरस्थायी होता है, जब उसका प्रत्येक सदस्य उसके प्रति वफादार हो। पारस्परिक कर्तव्यो का यथार्थ पालन करता हो और तू-मैं या 'मेरे-तेरे' की क्षुद्र स्वार्थवृत्ति से दूर रहकर एक दूसरे के प्रति प्रेमल और सहिष्णु रहता हो। सगठन मे एक दूसरे के लिए अपने को घिसाने, सहने और त्याग करने के मौके आते है, इससे कुटुम्बगत व्यक्तियो का निर्माण होता है, सुसस्कारो की प्रेरणा मिलती है, व्यवहार-दक्षता बढती है। व्यक्तिगत सुख की अपेक्षा समग्र कुटुम्ब के सुख का विचार पैदा होता है।

साथ ही एक घर के सभी व्यक्ति, यहाँ तक कि बच्चे भी कुटुम्बधर्म के संस्कारो को परिपुष्ट करने के लिए सामूहिक प्रार्थना करे (प्रार्थना, उदात्त, भावप्रद व प्रेरक हो, हो सके तो सर्व धर्म-समन्वयात्मक हो)। प्रार्थना के बाद भजन, धुन और मंगला-सूत्रोच्चारण हो, उसके बाद सभी मौन रहकर १ मिनट तक अपने सारे गृहजनो के प्रति स्नेह और वात्सल्यपूर्ण दृष्टि डाले। तत्पश्चात अन्तर्निरीक्षण करके किसी के साथ अपनी कोई भूल या खटक हो तो उसका प्रेम से परस्पर समाधान करे।

इस प्रकार धीरे-धीरे कुटुम्ब निर्माण होगा ही, पर उसमे भी तीन तत्त्वो की आवश्यकता है। वे है—पूरक, प्रेरक और मार्गदर्शक।

कुटुम्ब मे स्त्री और पुरुष परस्पर पूरक है। अगर स्त्री भूल करती हो तो पुरुष को उसे प्रेम से सावधान करना चाहिए और पुरुष भूल करता हो तो स्त्री को उसे प्रेम से समझाना चाहिए। परन्तु दोनो ही भूल करते हो, वहाँ प्रेरक तत्त्व की जरूरत पडती है। कुटुम्ब मे ऐसे माता-पिता आदि गुरूजन (बुजुर्ग) है। इसीलिए भारतीय संस्कृति के ये अमर सूत्र है—'मातृदेवो भव,' 'पितृदेवो भव'। कदाचित् माता-पिता आदि भी मोह, स्वार्थ, रुढिचुस्तता, अन्धविश्वास आदि के कारण कही चूकते हो तो उन्हे चेताने वाला कौन ? मतलब यह कि जैसे कैकेयी माता चूक गई थी, दशरथ पिता भी राम को १४ वर्ष तक वनवास की कृत प्रतिज्ञा के बाद वापिस लाने की भूल कर बैठे थे, तब उन्हे सावधान करने वाला तत्त्व है—आचार्य—मार्गदर्शक। इसीलिए चातुर्वण्य गुरु के प्रति सन्मान प्रदर्शित करने वाला 'आचार्य देवो भव' यह सुन्दर सूत्र आया। कदाचित् वशिष्ठ, विश्वामित्र और वाल्मीकि जैसे मार्गदर्शक भी भूल कर बैठे तो ? तब तो अन्तिम मार्गदर्शक सर्व-समष्टि मे व्यापकरूप से निहित धर्मतत्त्व (सत्य) ही बन सकेगा।

इन तीन बलो के सहारे कुटुम्बनिर्माण करने मे संस्कारिता तो आएगी ही। फिर भी समग्रकुटुम्ब मे सुसंस्कारिता लाने के लिए

माताओ को विशेष प्रयत्न करना पडेगा, क्योकि घर मे सस्कृति की रक्षिका वे ही है । वे ही नागरिको की जनयित्री है, राम, कृष्ण, बुद्ध और महावीर जैसे नरवीरो का निर्माण करने वाली है । महर्षि मनु ने नारी के प्रत्येक अग को पूजनीय बताया है । और उसकी पूजनीयता तभी सार्थक होगी, जब वह समग्र कुटुम्ब मे सुसस्कार डालने के लिए स्वय सुसस्कृत होगी, उदार, सहिष्णु और सयमी वनेगी ।

और तब कुटुम्ब कैसा होगा ?

ऐसा कुटुम्बधर्म से युक्त कुटुम्ब जहाँ भी दूर-सुदूर उसके कुनवे या कुल का कोई भी व्यक्ति दु ख मे होगा तो वहाँ उसके दु ख मे परस्पर सहभागी वनेगा, सुख मे सुखवृद्धि करेगा, सेवा और सौजन्य द्वारा शारीरिक-मानसिक श्रम निवारण करके शान्ति और आश्वासन की आरामशय्या मे सुलाएगा । और ऐसा विशाल व सुसगठित कुटुम्ब समाज, राष्ट्र और धर्म की सुन्दर सेवा करके जन-जन के हृदय मे अपना स्थान बना लेगा ।

पड़ौसी-धर्म

आदर्श गृहस्थाश्रम मे कुटुम्ब के दायरे मे आगे बढते ही पडौसी का दायरा आता है।

कुटुम्ब के साथ रक्त सम्बन्ध होने से वह उसे तो अपना ही मानता है, और जहाँ अपनापन होता है वहाँ उस कर्तव्य के प्रति वह सतत जागरूक रहता है। परन्तु वह स्नेह अपने माने हुए कुटुम्ब जितने सकुचित घेरे मे ही बन्द हो जाय तो उसमे विकृति आने की सभावना है, ममता के बधनो मे उसके जकड जाने का अदेशा है। इसीलिए समाजशास्त्रियो ने स्नेह के क्षेत्र को विकसित करने के लिए विभिन्न स्थान निश्चित किए है, उसमे पहला स्थान पडौसीधर्म का है

पडौसीधर्म का पालन करने और उसे असली रूप देने की इच्छा मनुष्य के गूढ अन्तरतम मे सतत रहा करती है। परन्तु पडौसी और पडौसीधर्म किसे कहे ? यही सर्व प्रथम विचारणीय वस्तु है।

पड़ौसी धर्म की व्याख्या

अगर 'पास मे रहने वाला' इतना ही सकुचित अर्थ पडौसी का किया जाय तो अपने पास मे रहने वाले पति को पत्नी, एव पुत्र को माता पडौसी ही समझेगी। और इससे आगे बढकर अपनी जाति या धर्म को पडौसी मानें तो भी वह अर्थ सकुचित होगा। अपनी जाति के प्रति तो जानवर भी वफादार और सहायक होते है। अधिक मानसिक विकास होने के कारण मनुष्य की जिम्मेवारी अधिक है। अत उसका कर्तव्य क्षेत्र तो क्रमश विशाल होना चाहिए। यही कारण है कि मनुष्य अपने जन्म-ग्राम को ही जन्मभूमि न मानकर सारे राष्ट्र को

जन्मभूमि मानता है और अपने पुरुषार्थ का उपयोग सारे देश के शुद्ध हित मे करता है।

इस दृष्टि से उच्च स्तर से पडौसीधर्म का विचार करे तो हमारा सारा देश गृहरूप और देश की सारी जनता हमारी कुटुम्ब रूप बनजाती है। जैसे कुटुम्ब के विभिन्न अग अलग-अलग उपयोगी कार्य करते हुए परस्पर अभिन्नता रखते है, वैसे ही सारे देश की सभी समाजे और जातियाँ परस्पर अभेदभाव से वर्ताव करे। इस तरह राष्ट्रगत कुटुम्ब-भाव व्यापक होने के साथ ही दूसरे राष्ट्रो के प्रति पडौसीधर्म जागृत हो और उसका ज्यो-ज्यो विकास होता जाय त्यो-त्यो सारा विश्व मैत्रीभाव से ओतप्रोत हो जाय।

यद्यपि ऐसी स्थिति होने पर मानव की स्वार्थवृत्ति सर्वथा नष्ट तो नहीं हो जायगी, फिर भी आज जैसी अधम दशा, या भूखमरी बेकारी और दु स्वार्थ वृति जैसे दु ख तो नही होगे। मतलब यह कि वह स्वार्थ होगा भी तो उच्चकक्षा का होगा। आज पडौसी धर्म का विस्तृत स्वरूप कल्पनामय लगता है, मगर ऐसी व्यापकता असभव तो नही है।

आज पडौसी की प्रचलित व्याख्या है—घर के पास रहने वाला, एक गाँव मे रहने वाला या घर के कार्य मे सहयोग देने वाला अन्य कुटुम्ब का व्यक्ति पास मे आकर याचना करने वाला याचक अथवा अकस्मात् घर मे आने वाला अतिथि। इनके प्रति पालन किया जाने वाला धर्म पडौसीधर्म है।

इस प्रचलित व्याख्यानुसार भी पडौसीधर्म का पालन किया जाय तो बुरा नही है, क्योकि यह भी विशाल व उच्च पडौसीधर्म का एक छोटा महत्वपूर्ण अग ही है।

पड़ौसी-धर्म के पालन के लिए

पडौसी-धर्म-पालन मे तीन बातो पर खास ध्यान देना चाहिए —

(१) वह चाहे जिस धर्म, सम्प्रदाय, देश, वेष, कौम, जाति या समाज का हो, उसके साथ सहानुभूति और सहिष्णुता का बर्ताव करना चाहिए। मनुष्य की भिन्न-भिन्न विचार धाराए या दृष्टियाँ हो सकती है, इसमे प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र है। अगर किसी को यह लगता हो कि वह विचारो मे पिछडा है, जाति या कौम मे हलका है, असस्कारी है, फिर भी उसका तिरस्कार करने मे तो उसके विचारो या व्यवहारो को सुधारना अशक्य है, प्रत्युत उसके साथ स्नेह और सहिष्णुता रखने से धीरे-धीरे उसे अपने नजदीक लाया जा सकता है।

(२) मन, वचन और कर्म से इस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए, जिससे उसका दिल जरा भी न दुखे। इसमे व्यवहार की एक सूक्ष्म बात से लेकर धार्मिक क्रिया तक की बातो का समावेश हो जाता है। यद्यपि विचारो या वाणी मे कार्य जितना सरल है उतना ही आचरण मे कठिन है। इसे स्पष्ट समझने के लिए दृष्टान्त लीजिए —

मान लीजिए, आप कही बैठे है या मुसाफिरी कर रहे है। आपको बीडी पीने की आदत है। यह आपके पास बैठे हुए पडोसी को पसद नही। ऐसी दशा मे आप उसके पास बैठ कर बीडी फूक रहे है तो समझिए कि आप पडोसीधर्म से चूक रहे है। इसी प्रकार ऐसे खाद्य पदार्थ जो आपके पडौस मे बैठे हुए यात्री या व्यक्ति को अभीष्ट नही नही है, फिर भी आप उसके सामने बैठ कर खाते है तो आप पडोसी-धर्म से भ्रष्ट होते है। अपने घर से कूडा निकाल कर अपने पडौसी के घर के आगे या पास मे डाल दिया तो आप पडौसीधर्म से च्युत हुए, समझिए।

युरोप आदि पाश्चात्य देशो मे तो इसे सभ्यता का एक अग माना जाता है, और उसका वहाँ स्वाभाविक रूप मे पालन किया जाता है, जबकि सभ्यता और सस्कृति के केन्द्र माने जाने वाले भारत की जनता को यह बात सिखानी पडती है, यह साश्चर्य दु खद वस्तु है।

धर्म और जाति के भेदो ने ऐसी सामान्य सभ्यता भी खो दी है। सचमुच भारत के लिए यह असह्य है। एक मस्जिद के पास से गुजरती हुई भजन मडली शायद ही सोचती है कि हमारे शोरगुल से मुस्लिम भाई की बदगी मे बाधा पहुँचेगी। इसी तरह हिन्दुओ के मन्दिर के पास से निकलने वाले मुस्लिम भाई को भी अपने पडौसी का दिल न दुखे। इसका शायद ही भान रहता हो।

पडौसी की सहायता करनी चाहिए। कोई यह कहे कि पडौसी भिन्न जाति, कौम, धर्म, सम्प्रदाय या वेष का हो तो उसे कैसे सहायता दी जाय, यह सरासर गलत मान्यता है। किसी को सहयोग देने या कष्ट मे सहायता पहुँचाने मे धर्म नष्ट नही होता, बल्कि धर्म का पालन है। जहाँ धर्म के नाम से धर्मान्तर कराया जाता हो, मानव जाति का तिरस्कार किया जाता हो, परस्पर झगडा मचाया जाता हो या छोटे-बडे जीवजन्तु को हानि पहुँचाई जाती हो, वह धर्म नही, धर्म की विकृति है, धर्मभ्रम है। अमुक प्रकार का वेष, चिन्ह, तिलक, धारण करने वाले या अमुक प्रकार की पूजा करने वाले को ही किसी भी धर्मशास्त्र मे भक्त या उपासक नही माना है, अपितु जो परदु ख मे दु खी होता है, दु ख दूर करने और सुख पहुँचाने का प्रयत्न करता है, अहिंसा, सत्य, नीति-न्यायादि धर्म का पालन करता है, वही सच्चा भक्त या उपासक है। फिर आज तो मानवमात्र के प्रति सहयोग की भावना होनी चाहिए। जातिवाद, सम्प्रदायवाद, भाषा-प्रान्तवाद आदि के अभेद्य दुर्ग आज तो ढह रहे है। आन्तरजातीय, आन्तरप्रान्तीय, आन्तरराष्ट्रीय, आन्तरधार्मिक रोटी-बेटी व्यवहार के द्वार तेजी से खुलने लगे है। अत 'आचार प्रथमो धर्म' इस सूत्र को सामने रखकर सबको यथायोग्य सहयोग देना चाहिए।

यदि मनुष्य उपर्युक्त तीन कर्तव्यो का पालन अपने निकट के मनुष्यो के प्रति करे तो उसने पडौसीधर्म का पालन किया समझा जायगा। पडौसी धर्म का पालन अतिथि, याचक, दु खीया घर के

नौकर-नौकरानी या अपने व्यवसाय के कार्य मे मदद करने वालो के प्रति भी होना चाहिए । घर मे कार्य करने वाले को हीन न समझ कर शास्त्र मे उसे 'कौटुम्बिक पुरुष' माना गया है। गुजरात मे आज भी कृषि कार्य सहयोगी को 'साथी' कहते है। ज्यो-ज्यो उस पडौसीधर्म का विकास होता जायगा त्यो-त्यो मानवस्नेह का भी विकास होता जायगा। पहले कुटुम्ब, फिर आस-पास रहने वाले व्यक्ति, ग्राम, नगर, प्रान्त, देश, समाज और विश्व मनुष्यो से क्रमश आगे बढ कर सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्राणियो के प्रति पडौसीधर्म का आचरण किया जाय तो क्रमश उसका क्षेत्र भी व्यापक होता जायगा। तब वह पडौसीधर्म मिटकर आध्यात्मिक क्षेत्र पर पहुँच कर आत्मा का अविचल, अखण्ड धर्म बन जायगा।

भावना

पडौसीधर्म का पालन करने वाला यो न समझे कि मैं यह परोपकार कर रहा हूँ। क्योकि यह तो प्राणिमात्र का कर्तव्य है और गहराई से देखे तो अपने ही लिए ईष्टकर्ता है क्योकि ससार मे प्राणिमात्र को विभिन्न क्षेत्रो मे एक दूसरे की सहायता की आवश्यकता रहती है। दूसरो को सहायता करने मे स्वय को आत्मसतोष भी प्राप्त होता है सहाय्यभावना के आन्दोलन देर-सवेर से वातावरण पर और वातावरण का असर उस व्यक्ति पर पडता है, जिससे प्रेरित होकर वह या अन्य व्यक्ति भी आफत मे उसकी मदद करता है। इस प्रकार पडौसीधर्म आदर्श गृहस्थ के लिए अनिवार्य है।

व्यावसायिक-धर्म

जिस समाज मे सहज सेवावृत्ति का जितना विकास होगा, वह समाज उतना ही समृद्ध और सुसस्कृत होगा। भारतवर्ष मे सहज सेवा-वृत्ति ब्रह्मचर्याश्रम से लेकर सन्यासाश्रम तक और ब्राह्मण से लेकर शूद्र तक चारो आश्रमो और वर्णों मे प्रत्येक व्यक्ति मे ताने-बाने की तरह ओत-प्रोत हो गई थी। इसी मे से 'तेन त्यक्तेन भुजीथा' सूत्र पैदा हुआ था। परन्तु धीरे-धीरे सहज सेवा की वृत्ति लुप्त होती गई और उसके स्थान मे स्वार्थ और विलास पनपने लगे। जहाँ तक वर्ण-व्यवस्था अपने असली रूप मे थी, वहाँ तक ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चारो परस्पर एक दूसरे की सेवा करने वाले थे। एक वर्ण एक प्रकार की सेवा करता तो बदले मे दूसरा वर्ण दूसरे प्रकार की करता। इसमे सेव्य-सेवक का भेद ही न था। वास्तव मे देखा जाय तो सेवा एक प्रकार का विनिमय ही है। पूर्वकाल मे सारा मानव-समाज एक कुटुम्ब रूप ही था। जैसे एक छोटे कुटुम्ब मे सरलता से व्यवहार चलाने के लिए प्रत्येक व्यक्ति की उसके शारीरिक और मानसिक विकास तथा कार्य-क्षमता के अनुसार, विभिन्न कार्यो मे नियुक्ति की जाती है, वैसे ही इस मानवसमाज मे भी उपर्युक्त दृष्टि-विन्दु से सुव्यवस्था के लिए कार्यो का विभाजन हुआ था। समुहरूप से यह व्यवस्था चार विभागो मे बटी हुई थी। और उन चार विभागो मे सारी मानवजाति के लिए उपयोगी सभी साधनो व आवश्यकताओ की पूर्ति हो जाती थी। वे उपर्युक्त चार वर्ण थे।

मनुष्य समाज को सुशिक्षण, सयम और सस्कारो से ओत-प्रोत करने व समाज की नैतिक चौकी का कार्य निःस्पृह और निर्लोभी रहकर कर

सके, उस वर्ग को ब्राह्मण कहा गया। एक वर्ग ने कृषि जीवन, व्यापार, हुन्नर, गो-सेवा और विभिन्न शरीरोपयोगी सेवा करने का कार्य स्वीकार किया, वह वैश्य कहलाया। जनता को संकट से बचाकर न्याय और सुरक्षा का कार्य जिसने उठाया, वह वर्ग क्षत्रिय कहलाया और एक वर्ग ऐसा भी हुआ जिसने तीनो वर्णो से अवशिष्ट समाज सेवाकार्य उठा लिया, वह शूद्र कहलाया। इस प्रकार ये सब परस्पर के कार्य पारस्परिक सेवा ही है और वह सेवा भी विनिमयरूप ही तो है।

भेदभाव था ही नही !

एक बौद्धिक सेवा करता है, एक व्यावहारिक सेवा करता है और एक शारीरिक सेवा करता है, ये सब सेवक ही तो है। इनमे स्वामी कौन है, कुछ समझ मे नही आता। यदि कोई कहे कि हम बौद्धिक सेवा करते है, इसलिए स्वामी है, तो यह बात गलत ठहरती है, क्योकि अकेली बौद्धिक, व्यावहारिक या शारीरिक सेवा से जीवन-व्यवहार कदापि नही चल सकता। शरीर मे मस्तिष्क स्वय को स्वामी मानने का साहस करे और पेट काम करना बन्द करे तो थोडी देर मे उसको पेट ठीक करने के लिए दिमागी सेवा करनी पडती है। इसी प्रकार पैर से लेकर मस्तक तक शरीर के सभी अगोपाग परस्पर सहयोगी है। एक भी अग निकम्मा या ऊँच-नीच भी नही है। इसी प्रकार मानवसमाज एक दूसरे वर्ण का परस्पर सहयोगी है, इसमे कोई ऊँचा या नीचा नही, कोई अछूत या छूत नही, कोई स्वामी या सेवक नही।

एक बालक वयस्क होने तक अपने माता-पिता, कुटुम्ब आदि की सेवा लेकर जीता है, विकास करता है, किन्तु वह उन्हे स्वामी नही समझता, अपितु उपकारी समझता है और वयस्क होते ही उनकी सेवा बजाना अपना धर्म मानता है। इसमे विनिमय या कर्त्तव्य की भावना जरूर है, और कुटुम्ब, राष्ट्र या समाज मे कर्त्तव्य भावना आती है, तब वहाँ किसी अग को ऊँचा या नीचा नही समझा जा सकता।

परन्तु जबसे स्वामी-सेवक, मालिक-गुलाम, सेठ-नौकर, अधिकारी और तदाश्रित कर्मचारी इस प्रकार के भेद समाज मे—धधे की दुनिया मे—पडे हैं, तब से स्वार्थवृत्ति, शोषण, अहकार, सत्तामद, भोगविलासो का आधिक्य आदि दुर्गुण समाज मे घुसे है और समाज मे नियत वर्ण-व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई है।

आर्थिक प्रवृत्ति और धर्म

गृहस्थाश्रमी मनुष्य को कोई न कोई आर्थिक प्रवृत्ति जिदगी टिकाने के लिए करनी ही पडती है। अगर वह नही करता है तो उसका बोझ कुटुम्ब के अन्य लोगो पर पडता है, उसके माता-पिता, भाई या कुटुम्ब के अन्य लोगो को अर्थोपार्जन के लिए कुछ न कुछ करना पडता है। ऐसी दशा मे गृहस्थ जीवन सुखी होने के बदले दु खरूप हो जाता है। इसलिए गृहस्थ जीवन मे पैर रखने से पहले प्रत्येक व्यक्ति को अर्थोपार्जन करने की शक्ति प्राप्त कर लेनी चाहिए।

कई लोगो की धारणा है कि आर्थिक प्रवृत्ति पापरूप है, पर यह भ्रान्तिमूलक है। आर्थिक प्रवृत्ति कर्त्तव्य विनिमय या सेवा समझकर की जाय तो उसमे पाप नही है। इसीलिए "धमार्थमर्थमर्जयेत्' (धर्म-पालन के लिए अर्थोपार्जन करे), यह सूत्र प्रचलित हुआ। जब एक व्यक्ति दूसरे की उत्पन्न की हुई वस्तुएँ लेता है और बदले मे समाज को कुछ भी नही देता, किसी भी प्रकार की सेवा नही करता, तो वह समाजधर्म की दृष्टि से चोर ठहरता है। चारो ही वर्ण के लोग अगर यह ठान लें कि हम तो कुछ भी अर्थप्रवृत्ति नही करेगे, तो यह समाज टिक नही सकता। इसीलिए आर्थिक प्रवृत्ति के लिए मनुष्य किसी भी चीज का व्यापार कोई उद्योग-धधा, खेती, पशुपालन, कोई पेशा (डॉक्टरी, वैद्यक, वकालत, अध्यापन आदि, या कोई नौकरी अथवा मजदूरी आदि करता है। आज तो परिस्थिति ऐसी हो गई है कि आर्थिक-सग्राम मानव जीवन का अनिवार्य अग बन गया है। इसके तीन कारण मुख्य है —जनसख्या

वृद्धि, आवश्यकताओं में वृद्धि, यन्त्रोद्योग एवं पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के कारण बेकारी। आज तो परिस्थिति ऐसी बन गई है कि सारे दिन भर तनतोड़ मेहनत करने पर भी जरूरतें पूरी नहीं होतीं। परन्तु अर्थोपार्जन के पीछे जो जीवन विकास और धर्मपालन का हेतु था, वह लगभग भुला दिया गया है। आज तो लोगों ने यह मान लिया है कि पैसे होंगे तो सुख दौड़ता आएगा। परन्तु सुख पैसे में नहीं, मनुष्य की मानसिक समता में है अगर मनुष्य यह निश्चय करले कि जिस आर्थिक प्रवृत्ति से मेरा जीवन-विकास नहीं सधता, वह मेरे लिए त्याज्य है, तो अपने आप उसकी प्रवृत्तियों में संयम और स्वस्थता आएगी।

व्यवसायों के पीछे समाज हितदृष्टि हो

वर्णव्यवस्था के अनुसार जाति और उपजातियों के अलग-अलग कार्यों-धंधों-कर्मों का विभाग मध्ययुग में हुआ था, परन्तु उसमें उच्च-नीचता, घृणा, द्वेष, स्वार्थान्धता, आदि दुर्गुणों के घुस जाने के कारण वह व्यवस्था भी समाज के लिए निरुपयोगी साबित हुई। और अब तो यह स्थिति है कि आजीविका के लिए जिसे जो कार्य रुचा, जिसमें अर्थोपार्जन अधिक होने की संभावना दीखी, भले ही उसमें समाज का हित हो या न हो, अपनाया। इससे व्यक्ति का भी जीवन-विकास रुका, धर्मबुद्धि छूटी और समाज रचना भी धर्मप्रधान होने के बदले अर्थ-काम-प्रधान बनी।

अतः मनुष्य को आजीविका का कोई भी कर्म—(धंधा, व्यवसाय, पेशा नौकरी, मजदूरी, उद्योग या किसी भी प्रकार का श्रम) पसंद करने से पहले धर्ममय समाज निर्माण की दृष्टि से समाजोपयोगी श्रम को उत्तम, ऐसे सर्जन में सहयोग देने वाली व्यवस्था को मध्यम और केवल पूंजी को कनिष्ठ समझना चाहिए। इस दृष्टिकोण से निम्नलिखित बातें लक्ष्य में रखनी जरूरी है—(१) मेरा श्रम समाज के लिए उपयोगी है या नहीं? वह किस प्रकार है? मेरा श्रम समाज को विलास, असमानता

या व्यसन की ओर तो नही घसीट ले जाता ? इस प्रकार विचार करे तो मनुष्य अनाज, कपडे, मकान आदि उत्पादन, जो जीवन की अनिवार्य प्राथमिक आवश्यकताएँ है, उन कामो मे ही जुटेगा । (२) इस श्रम करने वाले वर्ग मे अगर सस्कार पूर्ति न की जाय तो उस श्रम के द्वारा जो जीवन-विकास सिद्ध होना चाहिए, वह नही हो सकता । अत सस्कृति-रक्षण, नीति-प्रेरक और शिक्षण-सस्कार प्रदान द्वारा विकास के कार्य मे लगे हुए जन-सेवको की आवश्यकता रहेगी, जो समाज से कम से कम लेकर अधिक से अधिक देने का प्रयत्न करेंगे ।

(३) समाज-व्यवस्था के लिए उत्पन्न साधनो—वस्तुओ का विनिमय करने वाले वर्ग की भी जरूरत पडेगी । क्योकि न्याय नीति पूर्वक यथायोग्य विनिमय होने पर ही समाज मे से अव्यवस्था, असमानता या सघर्ष दूर हो सकते है । विनिमयकार खुद को अधिक मुनाफा किस वस्तु मे मिलता है, यह दृष्टि न रखकर समाज को किस चीज की पहले और अधिक जरूरत है, उसे व्यवस्थितरूप से सबमे बाँटने की दृष्टि रखे, तो उससे उसका जीवन विकास, धर्मपालन व सुख तीनो प्राप्त होगे, समाज को भी लाभ होगा ।

(४) हमने सिर्फ पू जी को तीसरा स्थान दिया है । उसका अर्थ यह नही है कि पू जी हल्की चीज है । केवल पैसा ही पू जी नही है । मनुष्य के पास जो बुद्धि शक्ति, कार्य-क्षमता, कला, जमीन, उत्पादन के साधन, चारित्र्य, विद्या आदि है वह भी पू जी है । परन्तु इन सब के पीछे भारतीय सस्कृति, नीति और सदाचार तथा हितबुद्धि जितनी अधिक होगी, उतना ही व्यक्ति का जीवन विकास अधिक होगा और समाज प्रगतिशील बनेगा ।

इसलिए उत्पादन, विनिमय, कला, विद्या, साहित्य, सशोधन, शिक्षण आदि सब समाज जीवन के उपयोगी अग है, इनमे से मनुष्य चाहे जो व्यवसाय सच्ची सार्वजनिक हितदृष्टि रखकर करे, उसे उसका पर्याप्त पारिश्रमिक और प्रतिष्ठा मिलनी चाहिए ।

इस दृष्टि से व्यसनपोषक व्यवसाय—तमाखू, बीडी, सिगरेट, शराब अफीम, गाजा, भाँग की दूकाने भट्टे, जुए के अड्डे तथा स्वास्थ्यनाशक होटल बन्द होने चाहिए। इसी तरह अनुत्पादक धधे—रेस (घुडदौड), लॉट्री, फीचर, सट्टा, ऊँचा व्याज, वट्टा, गिरवी, दलाली, जमीदारी आदि भी त्याज्य समझने चाहिए। स्वास्थ्यनाशक खाद्यपेय वस्तुओ का व्यवसाय (जैसे आइसक्रीम, वेजीटेबिल घी, कुल्फी आदि) तथा विलास व फैशन बढाने वाले विकारोत्तेजक व्यवसाय—सिनेमा, अश्लील चित्रकला, नाटक, सगीत, नाट्यक्लब आदि भी बन्द होने चाहिए। समाज मे नरकागार के समान वेश्यावृत्तिपोषक अड्डे, शरावघर, कसाईखाने और शिकारबाजी आदि कर्म पर भी प्रतिवध होना चाहिए।

लघुउद्योगो का देश मे विकास हो तो लोग घर बैठे काम कर सकते है। स्त्रियाँ, बालक, बूढे सभी कम खर्च मे, अपने स्वास्थ्य को सुरक्षित रखते हुए ऐसे हल्के फुल्के काम करें तो देश का उत्पादन बढ सकता है। इससे अर्थव्यवस्था विकेन्द्रित होने से शोषणवृत्ति, सग्रहखोरी और मुनाफाखोरी व वेकारी घटेगी, सहकारी वृत्ति, प्रामाणिकता और धर्म दृष्टि बढेगी।

परन्तु मनुष्य अपनी एक ही विशिष्ट शक्ति या कार्यक्षमता को सर्वस्व मानकर चले व अभिमान करे तो उसमे से सेवा वृत्ति व धर्मदृष्टि लुप्त होकर स्वार्थवृत्ति, अहकार, सत्ता मद आदि अनिष्ट डेरा जमा लेते हैं। जैसे सत्तावाद के जमाने में पूजी और वुद्धि शक्ति का तिरस्कार हुआ, पूजीवाद के जमाने मे वुद्धि-शक्ति का और वुद्धिवाद के जमाने मे सत्ताक्षमता और वुद्धिशक्ति का। यह विषचक्र ससार मे चलता है उसका कारण उपर्युक्त ही है। मनुष्य अपनी कार्यक्षमता वाला कर्म सद्वुद्धि व हित दृष्टिपूर्वक करता हुआ सेवा दे और वदले मे दूसरी कार्यक्षमता वाले व्यक्ति से सेवा ले, यह विनिमय-धर्म ही गृहस्थाश्रम को, समाज को सुखी व उन्नत वना सकता है। इस दृष्टि से क्रमश. विभिन्न व्यवसायकारो का धर्म सक्षेप मे दे रहे है।

कृषिकार और उसका धर्म

अन्न और वस्त्र मानवजीवन की सर्वप्रथम आवश्यकताएँ है। उनकी पूर्ति करने के लिए कृषक ने वृष्टि और पृथ्वी इन दोनो के आश्रय से अपने शरीर-श्रम द्वारा अन्न-कपास आदि उत्पन्न करने का व्यवसाय (या वृत्ति) अपनाया है वह मानव समाज के लिए ही नही इतर प्राणिजगत के लिए भी हितावह और उत्तम और उपकारी है। कृषक ने इस वृत्ति को स्वीकार करके, पेट की ज्वाला को बुझाने के लिए करोडो निरपराध पशुओ की अनिच्छा से की जाने वाली हिंसा को अन्नोत्पादन करके रोका है। इतना होने पर भी आज केवल अन्नाभाव के कारण नही, अपितु अधिकाश पशुहिंसा रूढि से, अज्ञानता से, स्वाद-लोलुप्ता से या शौक के खातिर होती है। उसके लिए कृषक जिम्मेवार नही, किन्तु कृषक को न्याय, प्रोत्साहन, सुविधाएँ न देने वाले, कृषक द्वारा उत्पादित माल का यथायोग्य विनिमय न करने वाले, कृषक के श्रम को हीन मानकर उससे घृणा करनेवाले, उसका उपकार मानने के बदले या उसे कृपियोग्य अद्यतन साधन मुहैय्या करने के बदले उससे व्याज, अधिक मुनाफा, ठगाई, धोखेबाजी, शोषण आदि करके उसके कुटुम्ब को अधभूखे व फटेहाल रखने वाले, उसे अद्यतन कृषि विज्ञान से वञ्चित रखने वाले ही अधिक जिम्मेवार है।

आज कृषक का जीवन काफी दयनीय है। अधिकाश किसानो के पास टूटे हुए हल और बूढे-थके वैलो की जोडी व टूटी हुई वैलगाडी के सिवाय कुछ भी नही होता। वे बेचारे वारहो महिने शर्दी, गर्मी और वरसात की परवाह किये विना सतत मेहनत करते है, फिर भी अध-भूखे व फटेहाल वने रहते हैं। अतिवृष्टि, अनावृष्ठि, हिमपात, टिड्डीदल-उत्पात आदि प्राकृतिक प्रकोपो को सहते-सहते और आकाशीवृत्ति पर रहते वह अव ऊवने लगा है। यही कारण है कि वहुत से किसान उत्तम-खेती का धधाछोडकर शहर के यत्रो या अन्य श्रम का आश्रय ले चुके, जिससे उन्हे शहरी जीवन के विलास और व्यसनो का चेप भी लगा,

जो उनके पवित्र, सादे व धर्ममय जीवन को कलुषित करने लगा। दूसरी ओर कृषको को व्यापारी व्याजवट्टे आदि से चूसते है, खेत मे कुछ भी पैदा न हुआ हो फिर भी सरकारी कर्मचारी महसूल वसूल करने के लिए उनके पीछे पडे रहते है, पुलिसवाले उसे नाहक हैरान करते हैं, जमीदार और कभी-कभी राज्य सरकार भी प्राय उन पर अन्याय करने को तुल जाते है। इस प्रकार आए दिन कोई न कोई सकट उसके सिर पर सवार रहता है। इस कारण से वह बेचारा चैन से बैठ नही सकता, कई बार तो इसी दयनीय दशा के कारण वह अपने धर्म को चूक जाता है और विद्रोही बन जाता है, अनैतिक वृत्ति अपना लेता है। इनके सही उपाय ये है—(१) कृषिकार को खेती का सम्पूर्ण अद्यतन ज्ञान मिलना चाहिए। वह चाहे पाठशाला द्वारा मिले या उपदेश द्वारा, पर वह कृषिशिक्षा व्यावहारिक होनी चाहिए। (२)कृषिकारो के स्वतत्र मडल होने चाहिए जो उन्हे इन सब चिन्ताओ और आफतो से उबार कर उसका नैतिक पथ प्रशस्त कर सकें, उनमे नैतिक हिम्मत पैदा कर सकें, जागृति ला सकें। (३) उन्हे कृषिकार्य के प्रति उत्साही और सतत उद्यमी बनाने चाहिए तथा साधनसम्पन्न लोगो को उन्हे साधन और प्रतिष्ठा देकर सहयोग देना चाहिए। (४) अवकाश के समय में उन्हे अन्य गृह-ग्रामोद्योगो की ओर प्रोत्साहित करना चाहिए।

किसान के धर्म ये है—(१) उसे मानवजगत् के पिता की उपमा दी गई है, इसलिए जगत् के मानवो को अपनी सतान की तरह हितकारी सात्त्विक पोषण देने के लिए उसे सतत लक्ष्यपरायण रहना चाहिए। (२) उसे सतत उद्योगी और कार्यपरायण रहना चाहिए। आलस्य, व्यसन, कलह, गपशप, मौजशौक आदि मे समय बर्बाद न करके विभिन्न ऋतुओ मे विभिन्न फसलें पैदा करने के लिए विवेक और श्रम करना चाहिए। कृषिकार्य से निवृत्त होते ही अन्य उद्योगो मे प्रवृत्त होकर दूसरी जरूरतो मे स्वावलम्बी बनना चाहिए। (३) कृषको को नैतिक बुनियाद पर रचित सगठन जो राजनैतिक पक्ष न हो प्रविष्ट होना चाहिए और

अन्य कृषको के साथ उसका सहकार होना चाहिए। कोई निर्बल या या दुःखी किसान हो तो उसके लिए स्वय का कुछ न कुछ त्याग और सहयोग करना चाहिए। (४) कृषक की दृष्टि धर्ममय समाज रचना की होने से वह अधिक पैसा कमाने के लोभ मे आकर जनता के स्वास्थ्य और जीवन के लिए अहितकर चीज का उत्पादन नही करेगा। द्वितीय नम्बर की आवश्यकता की पूर्तिवाली चीज के उत्पादन को अन्नादि उत्पादन की तरह प्राथमिकता न देगा। (५) वह अपने कृषि कार्य में सहायक खेत मजदूरो, साथियो व बैलो आदि की आवश्यकता का पूरा ध्यान रखेगा, उनके साथ सहानुभूति रखेगा, उनसे उनके बलबूते से अधिक काम न लेगा। साथ ही सुथार, लुहार, मोची, दर्जी, तेली आदि को भी उनका यथोचित पारिश्रमिक देगा। (६) कृषि कार्य करते समय, हल वगैरह चलाते समय जीव-जन्तुओ को बचाने का यथाशक्ति विवेक रखेगा। फसल को नुकसान पहुँचाने वाले पशु-पक्षियो या कीडो आदि को हो सके वहाँ तक मारे बिना ही भगा देगा या उडा देगा। (७) वह गाँव मे झगडे-फिसाद नही करेगा, झगडे पैदा करने वालो को सहयोग न देगा, उनका हत्था न बनेगा, झगडे आपस मे बैठकर मध्यस्थ प्रथा से निपटा लेगा, अन्याय आदि हुआ तो सगठन द्वारा अहिंसक प्रतीकार द्वारा हल करने का प्रयत्न करेगा। (८) अपनी सतान को वह अशिक्षित अज्ञानी, असस्कारी और रूढिपरायण नही रखेगा। अन्यथा उसकी सतान ठगी और शोषण का शिकार बन जायेगी। (९) वह वैवाहिक या मरणोत्तर आदि कुरूढियो मे फसकर फिजूल खर्च नही करेगा और ऊँचा ब्याज भर कर कर्ज नही लेगा। (१०) तात्कालिक स्वार्थ दृष्टि न रखकर दूरगामी व्यापक दृष्टि रखना। चाहे जिस जाति का व्यक्ति खेती कर सकता है सिर्फ उसमे कृषिकारित्व और उपर्युक्त धर्म होने चाहिए।

पशुपालक और उसका धर्म

यो तो पशुपालन का खेती के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है, किन्तु जो

स्वय खेती नही करते, वे अपने यहाँ पशु रखते है या जो पशु न रखते हुए भी दूध-घी, ऊन आदि चाहते है, उनकी चराने आदि तथा अन्य भावना की आवश्यकता पूर्ति के लिए पशुपालक वर्ग नियुक्त हुआ, जिसे भारत में गोपाल, ग्वाला, रैबारी, भरवाड, चारण, रायका, अहीर, गडरिया आदि नामो से पुकारते है। वह गायो, भैंसो, भेड-बकरियो, ऊटो आदि को दिन भर चराता है, पानी पिलाता है, घासचारा डालता है, उनकी निगरानी रखता है कि वे किसी के लहलहाते खेत मे घुस कर मुह न मार दे, नुकसान न कर दे और शाम को घेर कर घर ले आता है। कभी-कभी रात दिन जगल मे भी उन्ही के साथ रहता है। शर्दी, गर्मी, बरसात, भूख-प्यास के कष्टो को सहन कर के सचमुच पशुपालक तपस्वी जीवन बीताता है।

परन्तु आज पशुपालको के सामने कई कठिनाइयाँ पैदा हो गई है। एक तो आबादी अधिक बढ जाने से तथा मकानो के बढजाने से चरागाह बहुत ही कम होते जा रहे है। वन्य-सम्पत्ति भी जगलो के सफाया किए जाने से नष्ट होती जा रही है। इसलिए आज पशुधन धीरे-धीरे नष्ट होता जा रहा है, जो रहा-सहा है, वह भी पोषण पर्याप्त खाद्य न मिलने के कारण दुर्बल और कमजोर नस्ल का हो रहा है। घासचारा कुदरती प्रकोप के कारण कम होना है, और काफी महगा भी है। इसलिए कई पशुपालक तो इस परेशानी से ऊब कर शहरो के कल-कारखानो मे काम करने लग गये या थोडे-से पढ लिखकर सरकारी नौकरी मे लग गये। शहरो के सम्पर्क के कारण पशुपालको मे व्यसन और विलास भी तेजी से बढ रहे हैं। इन सबका इलाज यह है कि सरकार स्वय इस ओर अधिक ध्यान दे। धनसम्पन्न जनता पशुधन को उन्नत बनाने के लिए पशुपालको को आधुनिक पशुपालन विज्ञान, नस्ल सुधारने का प्रशिक्षण, तथा अन्य पशुजन्य वस्तुओ का अच्छा उपयोग करने का शिक्षण दिलाने की व्यवस्था करे, पशुपालन के लिए उन्हे प्रोत्साहित करे। उनके कार्य को हल्की नजर से न देखें।

पशुपालको को भी इन मुख्य धर्मों का पालन करना चाहिए—(१) पशुपालको के नैतिक मडल स्थापित किये जाय और उनमे प्रत्येक पशुपालक प्रविष्ट हो, ताकि मडल उनकी दिक्कतो को दूर कर सके और उनका नैतिक पथ प्रशस्त कर सके। (२) वे पशुओ के साथ आत्मीयता रखे, कौटम्बिकभाव रखे, उनके खानपान या उनकी सेवा-शुश्रूषा का पूरा ध्यान रखें, बूढे या अपाहिज हो जाने पर उन्हे कसाइयो के हाथ न सौंपे या न बेचे या तो स्वय पालन करे, या कुछ खर्च भरकर आस पास की पिंजरापोल में इन्हे भरती करवा दें। (३) पशुओ के गोबर, मूत्र या अन्य पदार्थों का अच्छा उपयोग करें, उन्हे व्यर्थ न जाने दे या बर्बाद न करे। (४) दूध घी आदि मे मिलावट करने या तौल मे कम देने या किसी के हरे-भरे खेत मे पशु को चराने आदि की अनैतिकता न करे। (५) शहरो के सम्पर्क से अपने व्यसनो एव फैशन का चेप न लगाए। (६) बाल विवाह, अनमेल विवाह, शादी-मृतभोज आदि मे फिजुल खर्च, मृतक के पीछे रोने-धोने, कन्या-विक्रय, वरविक्रय आदि कुरूढियो से मुक्त हो। (७) एक जगह ही फिरने से पशुपालक की दृष्टि सकुचित और रूढिग्रस्त बन गई है, जिससे वह अपनी सतान को पढाता-लिखाता नही अज्ञानी रखता है, रूढियो से जकडा रहता है अत बालको को सुशिक्षित व सस्कारी बनाने चाहिए। (८) झगडे-फिसाद, बात-बात मे लट्ठ बाजी आदि से दूर रह कर शान्ति से झगडा निपटाना चाहिए।

इस प्रकार पशुपालक-वर्ग अपना धर्म-पालन करेगा तो उसका और समाज का विकास निश्चित है।

व्यापारी और उसका धर्म

व्यापारी समाज का मेरुदण्ड है। प्राचीनकाल मे व्यापारी समाज के सच्चे सेवक होते थे। वे अपना पैसा, बुद्धि और सब कुछ समाज की सेवा मे लगाते थे। इसीलिए उन्हे महाजन कहा गया है। लेकिन जब से खेती और गोरक्षा का धर्म वे छोडते गए तब से उनका तेज घटने लगा। जिन लोगो ने यह कर्म उठाए, उन लोगो को व्यापारी हीन

समझने लगे, उनसे रोटी-वेटी का परहेज रखने लगे। उनके साथ प्रेम-भाव टूट गया। नतीजा यह हुआ कि अग्रेजो ने यह परिस्थिति भाप ली और प्रायः बहुत-सा व्यापार उन्होने अपने हाथ मे ले लिया। आगे का हाल तो आप जानते ही है।

व्यापारी का धर्म यह है कि समाज-सेवा की दृष्टि से जीवन की अनिवार्य वस्तुओ मे से जहाँ जो चीज पैदा होती हो, वहाँ वितरण के वाद अवशिष्ट वस्तु को जहाँ उसकी जरूरत हो वहाँ पहुँचाए। सिक्के के रूप मे धन सग्रह की अपेक्षा वस्तुओ का विनिमय करने मे ही जो माल उसके पास वच रहता, वही उसका धन था। उसकी सेवा का मेहनताना था। इस प्रकार न्यायवृत्ति से वह इसे प्राप्त करता था। पुराने जमाने मे सामुद्रिक यात्रा द्वारा व्यापार करने वाले एव स्थलमार्ग से यात्रा करके वस्तु विनिमय करने वाले व्यापारियो और सार्थवाहो (वनजारो) के अनेक उदाहरण मिलते है। आठ घण्टे मजदूरी करके मजदूर दो रुपये पाए और व्यापारी दो हजार, यह धर्म नही है। धर्मयुक्त व्यापार मे न मुनाफा हो, न घाटा। तराजू के दोनो पलडो की तरह दोनो बाजू समान होनी चाहिए। आज तो व्यापारी के जीवन मे सचयवृत्ति ने घर कर लिया है। पदार्थ सचय के साथ-साथ सिक्को के सचय की भी लालसा वढ गई है। फलत. व्यापारी यत्रवाद के कारण अपने धर्म को भूलाकर आज दलाल वन रहा है। यहाँ के कच्चे माल को दूर-सुदूर विदेशो को भेजकर वहाँ उसके रूपान्तर से वने पक्के माल के सौ गुने दाम भरकर वापिस यहा की जनता को वह माल मुहैय्या करता है, इसमे देश की पैमाली होती है, भारतीय जनता की समृद्धि कम होती है, व्यापारी को अधिक दलाली मिलती है। इसी दलाली के लोभ से व्यापारी विलास, फैशन और व्यसन का पोषण करने वाली अनावश्यक चीजो की भरती देश मे करता है और आवश्यक चीजो को दूर भेज देता है। यह देशहित या समाजहित की दृष्टि नही, क्षुद्रस्वार्थ दृष्टि है। इसके अतिरिक्त विना पुरुषार्थ के केवल चिन्ता पैदा करने वाले सट्टे और व्याज-

वृत्ति ने व्यापारी को कर्त्तव्यच्युत कर दिया है। इन्हे व्यापार कहा ही नही जा सकता । इन दोनो मे जनता का शोषण और उत्पीडन ही अधिक होता है ।

व्यापारी को निम्नलिखित धर्म का पालन करना चाहिए —

(१) वह न्यायनीति से अर्थोपार्जन करे, (२) व्याजखोरी, सट्टा आदि से दूर रहे, (३) राष्ट्रघातक व्यसन-पोषक व विकारोत्तेजक, स्वास्थ्यनाशक वस्तुओ का व्यापार न करे (४) वस्तुओ का अति सग्रह करके भाववृद्धि या मूल्यवृद्धि करने की वृत्ति से दूर रहे, (५) सरकार के कर जकात, महसूल, चुगी आदि की चोरी न करे, अपना हिसाब-किताब साफ रखे, बेईमानी न करे, (६) माल मे मिलावट न करे, बढिया माल दिखाकर घटिया न दे, तस्कर व्यापार न करे, एकदाम एक भाव कहे उचित मुनाफा ले नापतौल मे पूरा दे, यह व्यापारी की साख बढाने के सूत्र है, (७) गाँव का व्यापारी नैतिक ग्राम-सगठन मे मे प्रविष्ठ हो जाय और नगर का व्यापारी मडल मे प्रविष्ट हो जाय, ताकि उसकी कठिनताए दूर हो और वह नैतिकता के मार्ग पर आसानी से चल सके ।

व्यापारी-वर्ग की नैतिकता का प्रभाव उसके कुटुम्ब व देश पर भी पडेगा ।

यो तो कृषिकार, पशुपालक और व्यापारी तीनो वैश्यवर्ण मे आ जाते है, अत तीनो के धर्म प्राय समान है ।

श्रमजीवी-वर्ग और उसका धर्म

इस वर्ग मे लुहार, सुनार, राज, कुम्हार, नाई, तेली, धोबी, बुनकर, दर्जी, रगारा, पिजारा सुनार, मोची, कदोई, मजदूर आदि रूपान्तरकार जातियाँ आ जाती है । यह सब जातियाँ अपने-अपने धन्धो द्वारा अपनी आजीविका चलाकर जन-समाज के जरूरत की वस्तुएँ बना-कर या रूपान्तर करके उसकी सेवा कर सके, इसके लिए थीं। परन्तु

आज यन्त्रोद्योगो के प्रचुर-प्रसार के कारण बहुत-से लोग, खासकर गाँवो के श्रमजीवी प्राय बेकार हो गए है और अधिकाश तो गांव छोडकर शहरो मे मजदूरी करने चले आए हैं, या बस गए है ।

श्रमजीवी-वर्ग के सामान्य धर्म ये है—[१] अपने कार्य मे चोरी न करें, रूपान्तर के लिए ग्राहक ने जो चीज दी उसमे से चुराएँ नही, उसे बदलें नही, बिगाडे नही । ग्राहक के साथ धोखेबाजी न करे । [२] उचित मेहनताना ले, काम अच्छा करे, [३] परस्पर प्रेमभाव से एक से रहे, एक भाव और एक दाम रखे, [४] अपने हुन्नर मे दक्षता प्राप्त करें, उसका विज्ञान समझे, तथा अपनी सतान को उसमे प्रशिक्षित करे । [५] सामाजिक कुरूढियो मे न फसे, फालतू कार्यों, व्यसनो या कुरूढियो मे पैसे बर्बाद न करे । [६] नैतिक श्रम-जीवी मडल बनाकर उसमे प्रविष्ट हो, जिससे अपनी वास्तविक व्यावसायिक कठिनाइयाँ दूर कर सके और नैतिक जीवन जी सकें ।

वैश्य और शूद्र दोनो वर्णों मे से ये विभिन्न श्रमजीवी-वर्ग पैदा हुए है ।

कलाकार और वैज्ञानिक

ये दोनो वर्ग जनता को सस्कारी और प्रगतिप्रेरणा देने के लिए है । कला और विज्ञान का विकास होना चाहिए, बशर्ते कि वह कला या विज्ञान मानवजाति के विकास के लिए उपयोगी हो, जनता मे सुसस्कार सिञ्चिन मे मददगार हो । आज अधिकाश कलाएँ जनता को विलास-विकार और मौजशौक की ओर ले जाने वाली हैं, विज्ञान भी मानव-मानव के बीच युद्ध, सघर्ष, असमानता और बेकारी बढाने मे सहायक बन रहा है, अत कला या विज्ञान पर कलाकार या वैज्ञानिक को नैतिक अकुश रखना चाहिए । नही तो, वे अपने धर्म से च्युत होते है । अपने तुच्छ स्वार्थ के लिए अपनी कला या अपने विज्ञान को राजनीतिज्ञो । पूजीपतियो या धर्म झनूनियो के हाथो बेचना नही चाहिए । जनता के नैतिक जीवन कोह ानि पहुँचाने वाला कलाकार या वैज्ञानिक समाज

और राष्ट्र का गुनहगार है। अत कलाकार और वैज्ञानिक दोनो जनता की सेवा व जनहित की दृष्टि रखते हुए चले तो अपना धर्म भी पालन कर सकेगे।

साहित्यकार और पत्रकार

जनता के जीवन को उच्च लक्ष्य की ओर प्रेरित करने वाला, तत्त्वचिन्तन द्वारा जीवन विकास की ओर मोडने वाला, मनोरञ्जन के साथ दिव्य और भव्य सस्कृति का शिक्षण देने वाला, मानव की सद्-भावनाओ और सुविचारो को माजकर सत्क्रिया की ओर प्रोत्साहित करनेवाला उपन्यास, कथा, नाटक, गद्य या पद्य के रूप मे लिखा गया साहित्य वास्तव मे समाज के लिए हितकर है और ऐसा साहित्यकार समाज की सेवा करके अपना धर्म अदा करता है। उसका साहित्य सुलभ, सस्ता और लोक योग्य होना चाहिए।

दुनियाँ और देश के विभिन्न भागो मे बसी हुई जनता के विचारो, कार्यों, घटनाओ, प्रगति विवरणो आदि द्वारा जनता को ज्ञान कराना पत्रकार का धर्म है। जिसे वह अपने दैनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक या मासिक पत्र द्वारा लिपिबद्ध करके जनता के समक्ष प्रस्तुत करता है। परन्तु पत्रकार मे निम्नलिखित योग्यता हो तभी वह अपने धर्म की वफादारी के साथ पालन कर सकता है—(१) सच्चे समाचार, वजन-दार बातो, सुमार्गप्रेरक सुविचारो को ही अपने पत्र मे स्थान दे। (२) वह स्वावलम्बी, उत्साही, धीर, विवेकी, नि स्वार्थी, निडर और राष्ट्र-भक्त हो। साम्प्रदायिकता, जातीयता या प्रान्तीयता से परे हो, तथा किसी व्यक्ति, समाज या राष्ट्र का दुश्मन न हो, बल्कि मित्र हो। (३) जिस लेख मे जनता की भावनाएँ क्षुब्ध हो, जनता कुमार्ग पर प्रेरित हो, उसे अपने पत्र मे स्थान न दे। (४) जिन विचारो को पत्र मे स्थान दिया जाय, वे प्रौढ, उदार, स्पष्ट और कार्यक्षम होने चाहिए।

घासलेटी साहित्य, उन्मार्गप्रेरक उपन्यास, कथा, नाटक या चलचित्र की नायक-नायिकाओ का, नटनटियो का प्रदर्शन करने वाला साहित्य या पत्र अविलम्ब बन्द होना चाहिए।

कवि और लेखक

कवि केवल हवाई उडान भरने वाली गगनविहारी कविताओ की रचना न करे, अपितु लोक मानस की उद्बोधक, प्रभावित करने वाली, आन्दोलित करने वाली कविताएँ रचे। उसकी कविताएँ जनता को रसमग्न करके आदर्श की ओर ले जाने वाली होनी चाहिए। यह तभी हो सकता है जब कवि का खुद का जीवन प्रकृतिप्रेमी, सादा, चरित्रशील और सस्कृति परिपूर्ण होगा।

लेखक नि स्वार्थी, विचारक और लक्ष्यवान होना चाहिए। उसके लेख केवल उत्तेजनात्मक, छीछरे या नीरस न हो, अपितु भाववाही और आदर्श-प्रेरक हो। लेख की भाषा सरल, मधुर और प्रसादगुणयुक्त हो।

उपदेशक

उपदेशक चरित्रशील और ज्ञानवान होना चाहिए। जिस विषय पर उपदेश देना है, उसके बारे मे उसका विशाल अध्ययन, गहरा चिंतन और अनुभव होना चाहिए, तभी उसका उपदेश लोकोपयोगी प्रेरक और आश्वासनदायक हो सकता है। कथाकार आदि का समावेश भी इसी मे हो जाता है।

इस प्रकार साहित्यकार, पत्रकार, कवि, लेखक और उपदेशक तभी समाज और राष्ट्र की उत्तम सेवा कर सकते हैं, जब कि उनके सामने ध्येय, कार्यदिशा स्पष्ट और उपयोगी हो।

वैद्य, चिकित्सक और डाक्टर का धर्म

वैद्य, चिकित्सक या ऐलोपैथ, होमियोपैथ या नैचरोपैथ डाक्टर, सर्जन, यूनानी हकीम आदि मानवशरीर को स्वस्थ और व्यवस्थित रख कर तथा रोगी को राहत एव शान्ति पहुँचा कर मानवजाति की अमूल्य सेवा करते हैं। किन्तु भौतिकता की चकाचौंध से ये भी प्रभावित

होकर पैसा बटोरने और गैरजिम्मेवारी पूर्वक व्यवहार करने लगे है। सेवा के बदले अर्थोपार्जन का उद्देश्य बन गया है। अर्थोपार्जन के पीछे कई डाक्टर तो इतने पागल हो जाते है कि रोगी मरे या जीए, या उसे दूसरे रोग हो इसकी उन्हे कोई चिन्ता नही। रोगी गरीब हो, अभाव-पीडित हो, मृत्युशय्या पर हो फिर भी वे उससे फीस वसूल करने से नही चूकते। सामान्य मानवता का भी उल्लघन कर देते है।

नीचे वैद्य-डाक्टरो के सामान्य धर्म के बारे मे कुछ निर्देश किया जा रहा है —

(१) स्वय मानवजाति का सेवक है, इसलिए व्याधिग्रस्त दु खी मानव को सान्त्वना और शान्ति पहुचाए, उसकी चिकित्सा मन लगा कर करे। (२) अतिस्वार्थी न बने। इसका मतलब यह नही है कि उसे अपनी सेवा के बदले मे जनता से योग्य पारिश्रमिक न मिले, वह तो मिलना ही चाहिए। परन्तु गरीब या असहाय जनता पर उसका जीवन बोझरूप व क्षुद्रस्वार्थमय न होना चाहिए। (३) रोग होने के बाद उसे मिटाना ही चिकित्सक का काम नही है, बल्कि रोग पैदा ही न हो, ऐसी परिस्थिति का निर्माण करना भी उसका कर्त्तव्य है। रोगी को रोग न होने के कारण, पथ्य, खानपान के दोष, रहनसहन की भूले आदि बताकर रोग के बारे के सावधान करना चिकित्सक का धर्म है।

वकील और न्यायाधीश का धर्म

जहाँ जनता के पारस्परिक विनिमय या व्यवहार मे गडबडी, सघर्ष या अव्यवस्था पैदा हो, वहाँ उसे रोकने के लिए तथा स्वार्थवृत्ति की ओर झुक कर भूल करते हुए मानव को बचाने के लिए 'न्यायतत्त्व' की आवश्यकता रहती है। दोनो पक्षो मे जब विवाद पैदा होता है, तब कानून की धाराओ द्वारा सत्यासत्य का विश्लेपण करने वाला वकील कहलाता है। जो अपने मवक्किल की ओर से प्रतिवादी के वकील से जिरह बहस करता है। इसके बाद दोनो पक्षो की दलीलें सुनकर अन्तिम निर्णय देने वाला 'न्यायाधीश' कहलाता है।

परन्तु आज 'न्याय' कानून की पोथियो और दलीलो मे वन्द है नीति और धर्म पर प्राय अवलम्बित नही रहा। इसी कारण दोषी माफ वरी हो जाते है और निर्दोप मारे जाते है। चाहे जैसी उटपटाग दलीले करके एव सच्चे-झूठे गवाह खडे करके वकील अपने मवक्किल को जिताने का प्रयत्न करता है, क्योकि उसकी दृष्टि अपने पैसे पकाने की ओर है, सच्चाई पर नही। न्यायाधीश भी उनकी जेव गर्म करने के पक्ष मे फैसला देने से नही चूकते। यह अनिष्ट 'न्यायसस्था' के प्रति समाज की रही-सही श्रद्धा को भी मटियामेट कर रहा है। इसलिए न्याय देने की इस पद्धति और पात्रो को वदलने की सख्त जरूरत है। नीचे लिखी वातो पर ध्यान देना जरूरी है —

(१) न्याय की शोध तर्कों पर निर्भर न होकर वास्तविकता पर निर्भर हो।

(२) वकील झूठे मुकदमे न ले और न अपने मवक्किलो के ही भरोसे रहे, किन्तु स्वय वास्तविकता की छानवीन करे। अदालत मे सत्य वस्तु का ही प्रतिपादन करे।

(३) न्यायाधीश वास्तविकता को ढूंढ सकने वाले विचारक, प्रौढ सत्यपरायण होने चाहिए।

(४) प्रत्येक अपराध की सजा, नए अपराध को पैदा करनेवाली न वन जाय, अपितु अपराध को निर्मूल कर सकने वाली हो।

(५) मामूली सघर्षों का निपटारा मध्यस्थ प्रथा द्वारा, पचायतो द्वारा ही होजाय तो न्यायालयो मे वडे मुकदमो पर अधिक ध्यान दिया जासके।

(६) वकील और न्यायाधीश दोनो समाज सेवक है, यह सोचकर समाज का अहित होता है,ऐसा कार्य न करें।

ब्राह्मण धर्म

समाज मे शिक्षण और सस्कार की दूसरी सव वातो की अपेक्षा अधिक और अनिवार्य आवश्यकता है। इन दोनो तत्त्वो को जनता के

जीवन मे उतारने और नैतिक चौकी रखने के लिए ब्राह्मणवर्ण की नियुक्ति हुई। जब तक ब्राह्मण कर्त्तव्यपरायण और धर्मदृढ रहे तब तक तीनो वर्णों के व्यावहारिक और धार्मिक दोनो क्षेत्रो मे पूज्य मान कर उनका सन्मान किया जाता, जन्म, विवाह से लेकर ठेठ मृत्युकाल तक के अच्छे-बुरे सभी प्रसगो मे उनकी उपस्थिति अनिवार्य मानी जाती और जनता की ओर से सत्यकारस्वरूप योग्य द्रव्यादि भी उन्हे दिया जाता।

परन्तु जब से वे लोभी बने, नि स्पृहता और सात्त्विकता से हटने लगे, त्यागतपस्या की वृत्ति कम होगई, नैतिक चौकी के प्रति लापरवाह हुए, अपने अधिकारो का ढिढोरा पीटने लगे, और अपनी उत्तमता की डीग हाकने लगे, तब से उनकी प्रतिष्ठा घटने लगी। फलत अपनी दूकानदारी जमाए रखने के लिए ब्राह्मणो ने ज्योतिषविद्या, तीर्थस्थानो पर यात्रियो से वसूली, मदिरो के पूजापे का विक्रय, ग्रहगोचर आदि के अडगे लगाकर पूजापाठ द्वारा धनार्जन आदि धर्म निषिद्ध कार्य हाथ मे लिए। शिक्षा से प्राय दूर भागने लगे, और सस्कृति के नाम पर छूआ-छूत का दम्भ और जातिवाद का अनर्थ फैलाने लगे। फलत आज बहुत से ब्राह्मण अज्ञानी, स्वार्थलिप्सु, आलसी और अकर्मण्य बन रहे हैं। उन्हे अपने ब्राह्मणधर्म के पालन के लिए निम्नलिखित मुद्दो पर विचार करना चाहिए —

(१) जनता मे सस्कृति सुधार का सतत पुरुषार्थ करे। भारतीय सस्कृति के ठोस अध्ययनपूर्वक उसकी रक्षा का कार्य करे।

(२) एक ही ब्राह्मणजाति के अलग-अलग समूह जितने अश मे मिल सके, मिले और अपने कर्त्तव्य का पालन करने के लिए सामूहिक कार्यक्रम बनाएँ।

(३) नई पीढी मे सच्चा ब्राह्मणत्त्व पैदा करने वाली नई सस्थाए खडी हो, वर्तमान सस्थाओ की अपेक्षा उनकी शिक्षणप्रणाली नई व सस्कारितालक्षी हो।

(४) तीर्थयात्रास्थलो मे प्राप्त धन का तीर्थों द्वारा सास्कृतिकप्रेरणा मिल सकनेवाले कार्य, या जनता के शिक्षणकार्य मे सदुपयोग करने की योजना बनाई जाय। पडो द्वारा होने वाला दुरुपयोग बन्द हो।

(५) गरीब और साधनहीन ब्राह्मणो को आजीविका मे स्वावलम्बी बनाने की औद्योगिक योजना बनाई जाय।

(१) ब्राह्मणो मे इन्द्रियनिग्रह, मनोनिग्रह, तपश्चर्या, पवित्रता, सहिष्णुता, कोमलता, ज्ञान, कर्मयुक्त अनुभवज्ञान, श्रद्धा आदि उच्च गुण पैदा हो।

क्षत्रिय और उसका धर्म

जनता को दु ख और आफत मे से बचाए, दुर्बल पर अत्याचार होता हो तो उसकी रक्षा करे और न्याय दिलाए, उसे भारतीय सस्कृति मे क्षत्रिय कहा है। शौर्य, तेजस्विता, धैर्य, चातुर्य, निर्भयता, दानवृत्ति और ऐश्वर्य (जनता को व्यवस्थितरूप से अनुशासन मे रख कर उनसे कार्य लेने की क्षमता), ये क्षत्रिय के स्वाभाविक गुण बतलाए गए है। प्राचीन काल मे राजतत्र के युग मे चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था और राष्ट्र मे शान्ति बनाए रखने के लिए क्षत्रिय वर्ग की स्थापना हुई थी। उसमे विशेप योग्यता और कार्यक्षमता वाले या उनके वशपरपरागत व्यक्ति नृप, भूपति या राजा कहलाते थे। बाद मे उन्हे उक्त व्यवस्था को सुरक्षित रखने के लिए सेना सौंपी गई, अमुक जमीन व अधिकार सौंपे गए, तथा कृपिभाग एव कर दिया जाने लगा। तब से क्षत्रिय में सेवावृत्ति कम होने लगी, स्वामीवृत्ति बढने लगी। फलत उनमे प्रजा का शोपण, सत्तामद और विलासिता बढती गई और वे अपने धर्म को भूलकर अन्याय-अत्याचार का दौर चलाने लगे। और जनता मे उसकी भयकर प्रतिक्रिया जागी एव राजतत्र या एकतत्र का बोरियाबिस्तर लद गया। सारे राष्ट्र मे लोकतत्रीय राज्य हुआ, जिसके बारे मे राष्ट्र-धर्म प्रकरण मे हम कहेगे।

आज क्षत्रिय (गुण-कर्म से) हम उन्हे ही कहेगे, जो राष्ट्र की रक्षा के लिए राष्ट्रीय सरकार द्वारा नियुक्त हो, उनमे सैनिक, योद्धा, पुलिस (आरक्षक), गुप्तचर, सरकारी कर्मचारी आदि का समावेश होगा। उनके धर्म मुख्यत यह होगे —

(१) वे स्वय को जनता के सेवक समझे, (२) किसी के प्रति पक्षपात, अन्याय या अत्याचार न करे, (३) प्राप्तवेतन मे सतोप रखे, जनता से किसी भी रूप मे रिश्वत न ले, (४) सदाचारी और निर्व्यसनी रहे, (५) जनता को नाहक हैरान करने, कार्य मे विलम्व करने, फिजूलखर्च मे डालने का प्रयत्न न करें। (६) जहाँ तक हो सके आपसी समझौतो से, पच प्रथा द्वारा या नि शस्त्र उपायो से मामला शान्त करने का प्रयत्न करे।

मिलमालिक-मजदूर, सेठ-नौकर, स्वामी-सेवक

आज ये भेद समाज और राष्ट्र की शान्ति मे भयकर बाधक वन गए है। अधिकाश स्थलो मे इन दोनो के बीच अविश्वास की खाई चौडी होती जा रही है। एक अपने अधीनस्थ से कस कर काम लेना और बदले मे कम से कम मेहनताना देना चाहता है और दूसरा कम से कम काम करना और अधिक दाम लेना चाहता है। इस परिस्थिति का अन्त लाने के लिए दोनो पात्रो को अपना-अपना धर्म समझना चाहिए। दोनो के धर्म के वारे मे कुछ सुझाव नीचे दिये जा रहे है —

(१) स्वामी यह समझे कि मैं नौकर, सेवक या मजदूर के कार्य का ही मालिक हूँ। उसके मन, शरीर या आत्मा का नही।

(२) अपने अधिनस्थ व्यक्ति मे भी दिव्यतत्त्व विराजमान है, उसकी अवगणना करना अपने लिए हानिकारक है, क्योकि स्वामित्व या सत्ता स्थायी रहने वाले नही हैं।

(३) अपने कार्य के प्रति सेवक को वफादार रहना चाहिए। अपने कार्य के प्रति लापरवाही रखना, आलसी बन कर बैठे रहना या इरादे-

पूर्वक मालिक का नुकसान करना सेवक के दूषण है ।

(४) मालिक के क्षणिक लाभ के लिए अनैतिक या मानवताहीन कार्य न करना ।

(५) किसी में बुद्धि, किसी मे हृदय और किसी मे शरीर की कार्यक्षमता अधिक या कम होती है, रहेगी भी, इसलिए दोनो को परस्पर सहयोग से कार्य करना चाहिए ।

इस प्रकार विभिन्न व्यवसाय (धधे, पेशे, रोजगार, विनियम सेवा या श्रम) द्वारा आजीविका के साथ प्रत्येक गृहस्थाश्रमी अपने-अपने धर्मपालन का लक्ष्य रखे तो उसका और मानवजाति का विकास अवश्यभावी है ।

समाज धर्म

एक गृहस्थ सात्त्विक उपायो से अर्थोपार्जन करके अपना जीवन-निर्वाह करे और अपने कुटुम्ब के प्रति कर्तव्यो का पालन करता रहे, इतने मे ही गृहस्थाश्रम की सर्वांगपूर्णता नही होती। गृहस्थ के लिए तो विश्वविशाल क्षेत्र है, जिसमे गृहस्थजीवन के साथ अनेक कार्य, फर्ज, और धर्म जुडे हुए हैं। अत गृहस्थ के कर्तव्य का दायरा कुटुम्ब से आगे बढते ही सर्वप्रथम समाजकर्तव्य की ओर मुडता है।

समाज और उसकी उपयोगिता

समाज कोई आकाश से उतरी हुई जादुई चीज नही है, अपितु समविचारक, समान सस्कृति वाले व्यक्तियो का समूह है परन्तु समाज मे अद्वितीय शक्ति तभी पैदा हो सकती है, जब भिन्न-भिन्न व्यक्ति एक सूत्र मे ग्रथित होकर तैयार हो। विभिन्न फूल जब तक एक माला के रूप मे पिरोए न जाएँ, तब तक वे गले मे धारण नही किये जा सकते, सुन्दर भी नही दिखते और अन्त मे वे फूल बिखरे रहकर मुर्झा जाते है। इसी प्रकार विविध परमाणु बिखरे हुए हो तब तक वे न तो स्पष्ट दिखते है और न ही कार्यकारी सिद्ध हो सकते है। यही हाल विभिन्न बिखरे हुए व्यक्तियो का होता है। इसीलिए समाज मानवजाति के लिए अत्यन्त आवश्यक है, वह व्यक्ति के जीवन विकास मे सहायक बन सकता है, अवलम्बन से व्यक्ति विकास के क्षेत्र मे सरलता से प्रगति कर सकता है। व्यक्ति और विश्व का अनुबन्ध और राष्ट्रो का भव्य निर्माण समाज द्वारा ही हो सकता है। इसलिए समाज को हम एकत्रित चैतन्यशक्ति कह सकते है।

समाज की वर्तमान दशा

समाज शब्द ही वैसे तो सगठन और प्रगति का सूचक है। प्राचीन-काल मे समाज की सख्या अल्प थी, किन्तु उस अल्पसख्या का सगठन काफी व्यवस्थित था। आज समाज अनेक सख्याओ मे विभक्त हो गए है और उनके बीच जाति, कौम, धर्म, सम्प्रदाय आदि भेद की बडी-बडी दीवारें खडी हो गई है, जो एक नगण्य-से प्रश्न को हल करने मे रोडे अटकाती है। भारतीय समाज को यह प्रश्न बात-बात मे परेशानी मे डालता है। किसी भी विषय पर सार्वजनिक हित की दृष्टि से सोचते समय भी ये भेद आगे खडे रहते है। समाज की काया पर यह सबसे बडा कुठारघात है, जिसने समाज को जर्जरित और खोखला बना दिया है।

आज समाज दो भेदो मे बटा हुआ है—जातिरूप मे और धर्म सम्प्रदाय रूप मे। बनिया, लुहार सुथार आदि सज्ञाएँ जाति-सूचक है और वैष्णव, शैव, मुस्लिम, पारसी, जैन, ईसाई आदि सज्ञाएँ धर्म-सम्प्रदाय सूचक है। एकसाथ ये सब नाम भेद मिटने सम्भव नही है, तब तक ये अलग-अलग नामभेद विविध बन्धो या धर्मो की दृष्टि से पहचान के लिए भले ही रहे, परन्तु सार्वजनिक हित के कार्य मे अपने मनोभेद या मतभेद को छोडकर एक होकर रहे। मतलब यह कि धर्म-सम्प्रदायो की विभिन्न मान्यताओ तथा जाति-कौमो के विविध सस्कारो के कारण धार्मिक क्रियाकाण्ड एव रीतिरिवाज, रहन-सहन, भाषा, और पोशाक आदि भले ही भिन्न-भिन्न रहे, परन्तु मानवजीवन विशेषत गृहस्थजीवन को विकसित करने, नैतिकता की यथार्थरूप से रक्षा करने एव किसी भी समाज को हानि न पहुँचाने वाले नियम तो प्रत्येक समाज के व्यक्ति को अनिवार्य रूप से पालन करने चाहिए। और समाज का धर्म (सत्य-अहिसा न्याय आदि) दृष्टि से नवनिर्माण तभी होगा, जब उद्देश्य और तात्त्विक बातो मे समानता होने से प्रत्येक धर्म सम्प्रदाय, जाति-कौम आदि के लोग योग्यतानुसार सस्थाबद्ध

होकर रहेगे और अपने हिस्से मे आए हुए समाजधर्म, राष्ट्रधर्म और मानवधर्म का पालन एकसूत्रग्रथित होकर करेगे ।

समाज का नवनिर्माण

समाज का नवनिर्माण सस्थाओ के बिना नही हो सकता । हमे इसकी नीव मुख्यत दो सस्थाओ पर टिकानी होगी । एक सामाजिक सस्था (जनता का नीतिलक्षी सगठन) होगी, जो गृहस्थजीवन के सभी क्षेत्रो के व्यावहारिक प्रश्नो को प्रेरक सस्था की प्रेरणा से और मार्गदर्शक क्रान्तिप्रिय-साधुवर्ग के मार्गदर्शन से नीति धर्म की दृष्टि से हल करेगी । दूसरी होगी अध्यात्मलक्षी नैतिक सस्था (जनसेवको का सगठन), जो अपनी पूरक सामाजिक सस्था व राज्य सस्था को प्रेरणा देगी, स्वय आध्यात्मिक मार्गदर्शक क्रान्तिप्रिय साधुवर्ग से प्रेरणा लेगी और स्वय नीति, धर्म, सस्कारिता आदि तत्त्वो से प्रणवद्ध होकर उनका प्रचार करेगी । साधुवर्ग का समाज के साथ अनुबन्ध अवश्य रहेगा, पर वह समाज और सामाजिक कर्तव्यो से उपर उठा हुआ होगा । ये दोनो सस्थाएँ अपनी जिम्मेदारी और कार्य दिशा भिन्न होते हुए भी, एक लक्ष्य से आबद्ध होने से परस्पर अनुबद्ध और एक दूसरे की अगभूत होकर रहेगी ।

दोनो सस्थाओ के ध्येय और कार्य

सामाजिक सस्था लोक सस्था होने से उसका क्रियात्मक ध्येय गृहस्थजीवन को नैतिक उपायो से रसमय और सुखमय बनाना होगा । उसके मुख्य कार्य ये होगे—सामाजिक दिशा मे—(१) विवाह-व्यवस्था का सशोधन और सरक्षण (२) सामाजिक कुरूढियो का परिहार, (३) गृहस्थो के वैयक्तिक जीवन की कमिया दूर करना, आर्थिक दिशा मे—(४) पारस्परिक सहकारिता और ट्रस्टीशिप-पद्धति द्वारा रोजी-रोटी की समस्या हल करना, (५) सहकारी प्रवृत्तियो मे अनिवार्य बचत, (६) सरकार-सचालित सामाजिक-आर्थिक

आदि प्रवृत्तियो मे सस्था का नैतिक प्रतिनिधित्व, (७) मध्यस्थ प्रथा द्वारा न्याय।

अध्यात्मलक्षी नैतिक सस्था सर्वांगी दृष्टि वाले जनसेवको की सस्था होने से उसका ध्येय स्वय व्रतवद्ध होकर सभी क्षेत्रो मे धर्मदृष्टि से समाज रचना का प्रयत्न करना होगा। अत इसके मुख्य कार्य ये होंगे — (१) सामाजिक-आर्थिक क्षेत्र पूर्वोक्त जनसस्थाँ के हस्तगत कराना, (२) जगह-जगह ऐसे जन सगठन खडे करके उनका मचालन करना, प्रेरणा देना। (३) शैक्षणिक-सास्कृतिक क्षेत्र की प्रवृत्तियाँ अपने अधीन रखकर चलाना, (४) राजनैतिक क्षेत्र मे कॉंग्रेस के प्रति स्वय सहानुभूति रखते हुए उसका जनसस्था के साथ राजकीय मातृत्व सम्बन्ध जोडना, (५) छोटे-वडे अन्याय, अत्याचार तथा अपराध करने वाले व्यक्ति या वर्ग के विरुद्ध सामूहिक रूप से अहिंसक प्रतीकार द्वारा नैतिक-सामाजिक दवाव लाकर उसकी शुद्धि करना, (६) समाज की नैतिक सुरक्षा रखना।

सामाजिक सस्था के कार्यों का विश्लेषण

(१) विवाह व्यवस्था में सशोधन और सरक्षण करना—इसकी विशेप चर्चा तो हम विवाह विचारणा नामक प्रकरण मे कर आए है। वर्तमान मे होने वाले अन्तर्जातीय विवाह, प्रेमविवाह या मुक्त सहचार चुनौती दे रहे है कि विवाह व्यवस्था पर पुनर्विचार होना चाहिए। साथ ही सामाजिक सस्था की जिम्मेवारी है कि जितने भी विवाह हो, वे इस सस्था की देखरेख मे हो, ताकि विवाह सूत्र मे आवद्ध होने वाले दम्पती वय, प्रकृति और शरीर की दृष्टि मे योग्य न हो, कही स्वार्थ या अविवेक से वर-कन्या की सौदेवाजी हो रही हो, कही दोनो का अनमेल विवाह हो रहा हो, या विवाह होने के वाद पति या पत्नी दोनो मे से कोई स्वेच्छाचारपूर्वक कलुपित जीवन या कलहमय जीवन जी रहे हो तो इसकी पूरी जाच पडताल करके यह सस्था उन्हे यथा-योग्य कह सके और उन पर सामाजिक दवाव ला सके, क्योकि गृहस्था-

श्रमी के उत्तम दाम्पत्यजीवन पर ही सारे समाज की सुदृढता और सस्कारिता निर्भर है।

(२) **सामाजिक कुरूढ़ियो का परिहार करना**—यद्यपि व्यक्तिगत कुरूढियो का असर भी धीरे-धीरे समाज पर होता है और इसके लिए मुख्य जिम्मेवार या दोषी व्यक्ति को ठहराया जाता है, किन्तु इन कुरूढियो को जो समाज आँखे मूद कर चलने देता है, वह भी कम जिम्मेवार नही है। एक ओर से यह सस्था कुरूढियो को व्यापक न बनने दे और दूसरी ओर समाज मे जड जमाई हुई कुरूढियो को उखाडे। इन दोनो कार्यो मे प्रथम आन्दोलन द्वारा और तदनन्तर अहिसक प्रतीकार द्वारा सम्पन्न किया जाय। असल मे, परिस्थिति, बलाबल या हिताहित का विचार किए बिना जडाग्रहबुद्धिपूर्वक अन्धानुकरण करते हुए कोई क्रिया की जाय, उसी का नाम कुरूढि है। ऐसी कुरूढियाँ वैयक्तिक, सामाजिक, और आध्यात्मिक आदि सभी क्षेत्रो मे होती है। सामाजिक कुरूढियो में उनकी गणना होती है, जो कुटुम्ब, कौम, जाति या समाज से सम्बन्धित हो। जैसे वैवाहिक, या मरणोत्तर कुरूढियाँ, पर्दाप्रथा, खानपान, पोशाक और रहनसहन आदि मे प्रचलित विभिन्न कुरूढियाँ अतिथिसत्कार मे व्यसनपोषण व फिजूलखर्ची की कुरूढि तथा हाथ से श्रम करने मे हीनता समझने की कुरूढि, ये और ऐसी ही अन्य कुरूढियाँ समाज के विकास को रोकती है। उन्हे दूर करने का जोरशोर से प्रयत्न होना चाहिए। जिन रूढियो से परावलम्बिता बढती हो, फिजूलखर्ची होती हो, समाज के किसी अग को हीन या नीचा समझ कर उसका विकास रोका जाता हो, जिसके पालन से असभ्यता और जगलीपन प्रगट होता हो, जो दम्भवर्द्धक हो, परम्परापालन के सिवाय, जिससे समाज का किसी भी प्रकार का हित न होता हो, ऐसी समाज हानिकर कुरूढि का शीघ्रातिशीघ्र निवारण करना चाहिए। जो क्रिया समाज के लिए उपयोगी, कम खर्चीली, आवश्यक सिद्धान्तानुकूल और लाभदायक हो, वही प्रचलित करनी चाहिए

या देशकालानुरूप समाजहित कर, नई प्रथा चलानी चाहिए।

(३) गृहस्थ के वैयक्तिक जीवन की कमियां दूर करना—व्यक्तिगत कमियाँ दो प्रकार की होती है—मस्कारिता की और साधनो की। कोई गृहस्थ व्यक्ति बुरे या उल्टे मार्ग पर चल रहा हो, किसी दम्पती का सुमेल न हो, किसी कुटुम्ब मे सतत क्लेश रहता हो, किसी पर कोई अन्याय, अत्याचार या प्रहार करता हो, कही लडाई-झगडे या दगे फूट निकले हो, गुडो, जबरदस्तो या चोर-डाकुओ का उत्पात हो, समाज का कोई व्यक्ति अन्याय, अनीति, शोपण, छलप्रपच, बेईमानी भ्रष्टाचार और असत्य द्वारा व्यापार धन्धा या आजीविका कार्य चला कर समाज की प्रतिष्ठा मे बट्टा लगाता हो, स्वभावगत दुर्गुणो (काम, क्रोध, मद, मत्सर, मोह लोभ आदि) को जीवन की स्थूल क्रियाओ मे परिणत करके समाज या राष्ट्र को हानि पहुँचाता हो या समाज के नियमो या मर्यादाओ का उल्लघन करता हो तो ये सब सस्कारिता की कमियाँ इस सामाजिक (जन) सस्था द्वारा दूर की जानी चाहिए। इन कमियो को दूर करने या इन दोपो को मिटाने के लिए तीन उपाय है—(१) इस प्रकार की हितशिक्षा-मस्कारो को व्यापक प्रचार द्वारा सस्कारिता का वातावरण तैयार करके, (२) सस्था के प्रभावशाली व्यक्तियो द्वारा उसे समझा-बुझाकर सामाजिक-आध्यात्मिक दबाव डालकर या कोई आर्थिक प्रश्न हो तो पचप्रथा द्वारा आपस मे निपटारा करके, (३) इस पर भी दोपित व्यक्ति न मानता हो तो नैतिक प्रेरक सस्था द्वारा सामूहिक रूप से शुद्धि प्रयोग (अहिंसक सत्याग्रह) द्वारा गुनहगार पर नैतिक-सामाजिक दबाव लाकर उसे प्रेम से अपनी भूले सुधारने और जाहिर मे स्वीकार करने को बाध्य करके या नियुक्त पचप्रदत सामाजिक प्रायश्चित्त स्वीकार कराके।

सामाजिक सस्था जब इस प्रकार के अहिंसक उपायो के सामाजिक-आर्थिक प्रश्नो को हल करने लगेगी तो सरकार का बोझ बहुत ही कम हो जायेगा और शासन-सस्था को केवल राजनैतिक क्षेत्र या राष्ट्र की

आन्तिरिक व बाह्य आक्रमण से सुरक्षा के प्रश्नो पर एकाग्र होकर काम करने मे शक्ति मिलेगी।

साधन दो प्रकार के होते है—प्राकृतिक और पुरुषार्थसाध्य। प्राकृतिक साधनो मे मनुष्य को प्राप्त हुए अग, उपाग, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और शक्ति आदि का समावेश होता है। इन प्राकृतिक साधनो की पूर्ति करना दु शक्य है। फिर भी आज वैज्ञानिक युग मे इस प्रकार की शोध हो रही है और कुछ अशो मे उसमे सफलता भी मिली है कि एक अग विकृत हो जाय तो उसकी जगह दूसरा कृत्रिम अग, जो उसी तरह का काम दे सके, बिठा दिया जाता है। पर ये तरीके खर्चीले और कृत्रिम है। तथापि सामाजिक सस्था द्वारा इस त्रुटि की पूर्ति यथाशक्य की जानी चाहिए। दूसरे साधन पुरुपार्थसाध्य होते है। उनमे अन्न, वस्त्र मकान, शिक्षणसस्कार, आरोग्य, न्याय और जीवनोपयोगी साधनो का समावेश होता है। इन सप्तसाधनो की ग्रामो और नगरो के समाज मे जहाँ-जहाँ कमी हो, जहाँ इन सप्तसाधनो मे स्वावलम्बन सिद्ध न हुआ हो, वहाँ शिक्षण-सस्कार, न्याय आदि के कार्य आध्यात्मलक्षी नैतिक (जनसेवक) सस्था द्वारा और बाकी के कार्यों की पूर्ति इस सामाजिक (जन) सस्था द्वारा की जानी चाहिए।

काम करने मे बिलकुल अशक्तवर्ग, विकलाग, वृद्ध आदि के निर्वाह के लिए उपयोगी साधनो की पूर्ति तथा उपर्युक्त वर्ग के लोगो को मानसिक आनन्द प्राप्त कराने वाले वाचनश्रवण की एव उनकी सेवाशुश्रूपा व्यवस्था और उनमे से योग्य व्यक्तियो के अनुभवो और शिक्षण-सस्कारो का लाभ जनता को प्राप्त हो सके, ऐसी व्यवस्था करना इस जनसस्था का कर्तव्य है।

(४) परस्पर सहकारिता और ट्रस्टीशिप पद्धति द्वारा रोजी रोटी की समस्या हल करना—समाज मे जगह-जगह बेकारी, बेरोजगारी और आर्थिक विपमता के दर्शन होते है। साथ ही मध्यवर्ग, निराधार विधवाएँ, अनाथ, असहाय कुटुम्ब तथा प्राथमिक तथा शिक्षक प्राय:

आर्थिक सकटो से घिरे हुए है। इस समस्या को हल करने का पहला उपाय गाँवो मे कृपको, पशुपालको और श्रमजीवियो के तथा शहरो मे कल-कारखानो के मजदूरो, श्रमजीवियो, मध्यमवर्गीय लोगो एव माताओ के अलग-अलग सगठन (नीतिधर्मलक्षी) वनाकर उन्हे अलग-अलग आर्थिक प्रवृत्तियाँ सौपना है। ग्रामो और नगरो के इन विभिन्न जन-सगठनो की सहकारी मडलियाँ भी चले, जिससे सभी वर्ग के लोगो को आर्थिक लाभ मिल सके, सहकार भाव वढ सके, विकेन्द्रीकरण अर्थ क्षेत्र मे लाया जा सके, शोपण नष्ट हो सके, वेकारी कम हो सके, फिजूल-खर्ची पर नियत्रण आए और विविध वस्तुओ के उत्पादन और गृहोप-योगी वस्तुओ के सहकारी भडारो द्वारा शुद्ध वस्तु भी मिल सके। गाँवो के मडल अपने मुख्य कार्य से अतिरिक्त समय मे खादी, ग्रामोद्योग, गृहोद्योग आदि श्रम-कार्य अपनी-अपनी उपसस्थाओ के जरिये हाथ मे ले सकते हैं। साथ ही ग्राम्य मडलो मे १० प्रतिशत व्यापारी और वुद्धिजीवियो को भी लिया जाय, ताकि उनकी योजनाशक्ति और कार्य-क्षमता आदि का उपयोग सहकारी प्रवृत्तियो के चलाने, वेकारी-निवार-णार्थ योग्य आयोजन करने तथा सस्थाओ के हिसावी कामो मे किया जा सके। नगरो मे भी मजदूर-मध्यमवर्गीय-मातृसमाज-सगठनो के हिसावी कामो मे उनका उपयोग किया जा सकता है।

मजदूर-सगठनो का कार्य केवल आर्थिक लाभ दिलाना नही, किन्तु मजदूरो की हर क्षेत्र की समस्याओ को नैतिक दृष्टि से हल करना है, जिससे वे सुसस्कारी, नीतिमान, धर्मजीवन वाले, चारित्र्यशील नागरिक वन सकें, उनमे आए हुए दुर्व्यसन, तोडफोड के कुसस्कार तथा अन्य वुराइयाँ दूर हो सके।

मध्यमवर्गीय सगठनो के अन्तर्गत शहरो मे वेकारी-निवारण के लिए उद्योगशालाएँ भी स्थापित की जा सकती है, जिनमे हर कौम के वेकार, वेरोजगार, निराधार या गरीव व्यक्ति को स्वाभिमान पूर्वक रोजी मिले। परन्तु उनका सचालन उक्त सामाजिक सस्था के हाथ में

होना चाहिए जिससे नीतिमत्ता कायम रह सके।

समाज की विधवाएँ, निर्धन या मध्यमवर्गीय बहनें स्वाभिमान पूर्वक जी सके, स्वावलम्बी बन सकें, अनेक प्रकार के हस्तोद्योगो द्वारा बहने रोजी कमा सकें, साथ ही उनमें नैतिक जागृति आ सके, उनके कौटुम्बिक-सामाजिक प्रश्न अहिंसक ढग से हल किए जा सकें, उन पर होने वाले अन्यायो, अत्याचारो, जुल्मो आदि का अहिंसक शुद्धिप्रयोग द्वारा निवारण किया जा सके तथा सम्पन्न घराने की शिक्षित या धर्माचरणपिपासु विधवा, सधवा या ब्रह्मचारिणी बहनो को नारी जाति की सेवा एव उनमे सस्कार प्रदान के कार्य का आनन्द मिल सके, शिशु-गृहो या बालमन्दिरो द्वारा बालको को शिक्षण के साथ भारतीय सस्कृति के अनुरूप सस्कार दिये जा सकें, इस दृष्टि से शहरो मे जगह-जगह मातृसमाज स्थापित होने चाहिए। धर्ममय समाज-रचना मे सभी दृष्टियो से मातृसमाज लाभदायक जनसख्या सिद्ध होगी।

आर्थिक सकट मिटाने एव उपकुटुम्बिता लाने का दूसरा मार्ग है—ट्रस्टीशिप पद्धति। म० गाधीजी ने भारत के अनुरूप आर्थिक क्रान्ति के लिए इस शब्द का प्रयोग किया है। गाधी जी के समय मे श्री जमनालालजी बजाज ने इसका सुन्दर नमूना पेश किया है। पूर्वकाल मे समाज और राष्ट्र पर जब-जब दुर्भिक्ष, बाढ, भूकम्प, महामारी, बेकारी या अन्य आर्थिक सकट आए है, तब-तब खीमाशाह देवराणी, चापाशाह झगडूशाह, भामाशाह, भीमाशाह आदि वैश्यो ने समाज के चरणो मे अपना सर्वस्व अर्पण किया है। स्वय को वे समाज का ट्रस्टी मानकर चले है। उनका जीवन-सूत्र यही था कि हमने जो कुछ कमाया है, वह समाज से ही कमाया है, समाज का ही यह धन है, मैं तो इसका सरक्षक और जरूरत के अनुसार उपयोग करने वाला हूँ। अत समाज की इस धरोहर को 'समाज पर सकट के प्रसग मे अर्पण करना हमारा

कर्तव्य है ।' इसी भावना को ईशोपनिषद् की भाषा मे पढिए—

'ईशावास्यमिद सर्वं यत किञ्च जगत्यां जगत ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा., मा गृध कस्यस्विद्धनम् ॥'

'यह सारा चराचर जगत् ईश्वर (व्यापक विश्वात्मा) से व्याप्त है, अत त्याग करके उपभोग करो, प्राप्त साधनो पर मूर्च्छा न करो, यह धन किसका है ? अथवा किसी के धन की इच्छा न करो ।'

इस श्लोक का रहस्यार्थ तो यह है कि तुम्हारी बुद्धि या प्रयत्नो से जो कुछ तुम प्राप्त करते हो, आखिर तो वह विश्व-समाज का है । अगर उस पर स्वामित्वहक की आसक्ति रखी तो, समझलो, विश्वसमाज के प्रति तुम द्रोह कर रहे हो । अगर दूसरा कोई आसक्ति रखता है तो उसके धन की भी इच्छा मत करो । सही अनासक्ति का प्रभाव ही ऐसा पडेगा कि या तो वह अनासक्तियुक्त ट्रस्टीशिप को स्वीकार कर लेगा, या फिर व्यापक-समाज के लिए उसे छोडकर उत्कृष्ट योग का नमूना पेश करेगा । जैनसूत्र मे सद्गृहस्थ के लिए बताए गए बारहवे व्रत का एक नाम 'यथा सविभागव्रत' रखा गया है, उसका फलितार्थ भी यह है कि परिग्रह की मर्यादा करने पर भी मर्यादीकृत परिग्रह भी आसक्तिमय स्वामित्व न रखकर, उसका ट्रस्टी बन कर रहे और जब-जब समाज और राष्ट्र पर सकट आए तब-तब अपने तन-मन-धन-साधन आदि का अर्पण करे । सहकारिता की भावना तो इस वेदमत्र मे कूट-कूट कर भरी है —

'ओ सह नौ भुनक्तु, सहनाववतु, सहवीर्यं करवावहै, तेजस्वि नावधीतमस्तु, मा विद्विषाव है।' इस प्रकार सहकारी प्रवृत्ति और ट्रस्टी-शिप पद्धति से सारे समाज मे परस्पर विश्वास पैदा होगा, अनीति और बेईमानी से धन कमाने की वृत्ति दूर होगी, सबको स्वाभिमान-पूर्वक रोजी-रोटी मिलने की निश्चितता होगी, धन सम्पन्न व्यक्तियो को अपने धन को व्यर्थ के आडम्बरो और कुरूढिपोषण मे खर्च करने के बजाय यथायोग्य क्षेत्र और पात्र मे खर्च करने का आनन्द मिलेगा किसान, पशुपालक, श्रमजीवी, मजदूर, मध्यमवर्ग और मातृजाति आदि

सबको अपने अनुरूप काम मिल सकेगा, सबकी शक्तियो का यथायोग्य विकास हो सकेगा, सबको अपने-अपने कार्यों को विकसित करने और दिलचस्पीपूर्वक करने का मौका मिलेगा, जिनकी अनिवार्य जरूरत अधिक है, उन्हे अधिक और जिनकी कम है, उन्हे कम मिलेगा और कुल मिलाकर समाज मे कुटुम्बभाव बढेगा। इससे आर्थिक सकट रहेगा ही नही, पैदा हुआ तो भी दूर हो जायगा।

सिर्फ जरूरत है उक्त जन-सस्थान्तर्गत इन सब उपसस्थाओ को जाति-धर्म-सम्प्रदाय, व्यक्ति, रग, प्रान्त और भाषा के भेदो से ऊपर उठकर नैतिक दृष्टि से सचालन करने की और हर व्यक्ति को उनमे यथायोग्य काम देने व विकास का मौका देने की।

(५) सहकारी प्रवृत्तियो मे अनिवार्य बचत-योजना चलाना—यह कार्य सहकारी-प्रवृत्ति से सम्बन्धित है और हर दृष्टि से उपयोगी भी, क्योकि समाज मे कितने ही ऐसे कुटुम्ब है, जो खुल्ले हाथो पैसा मिलने पर विवाह, मृतक भोज, फिजूल खर्ची या अन्य व्यसनो मे उसे उडाने से नही चूकते और आखिर कर्जदार होकर सारी उम्र कर्ज की चक्की मे पिसते रहते है। इससे मुक्ति का उपाय है—अनिवार्य बचत। इससे सकट और आफत के समय काफी राहत मिल सकती है। यह सामाजिक बैंक का एक तरह का सुरक्षा-आश्वासन है। इससे समाज की आर्थिक क्षमता बढ जाने व अभाव दूर हो जाने से समाज का हर व्यक्ति ईमानदारी, नीति और धर्म का पालन आसानी से कर सकेगा।

(६) सरकार सचालित सामाजिक-आर्थिक-शैक्षणिक आदि प्रवृत्तियो मे इस सस्था का नैतिक प्रतिनिधि नियुक्त कराना— आज सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रो की प्राय सभी प्रवृत्तियो पर सरकार का पजा पडा हुआ है। कहने को तो लोकतत्री सरकार है, किन्तु लोकनीति, लोकशक्ति एव जनता की स्वय स्फुरित प्रतिभा का विकास होने योग्य उक्त क्षेत्रो पर शासनसस्था का गाढ आवरण पडा रहता है, जिससे उक्त विकास नही होता, लोगो की आवाज मुख्य नही रहती, जनता मे अपनी व्यवस्था स्वय सम्भालने

की क्षमता नही आती। सरकार या काग्रेस जब सहकारी प्रवृत्ति या पचायत का चुनाव होता है, तब अपने पक्ष की ओर से किसी व्यक्ति को वह चाहे योग्य हो या अयोग्य—खडा कर सकती है, या उसके लिए सिफारिश करती है, सामाजिक-आर्थिक-शैक्षणिकादि क्षेत्रो के चुनाव मे काग्रेस की ओर से किसी उम्मीदवार को खडा न करने की काग्रेस के उच्च स्तर से आज्ञा होने पर भी प्रादेशिक या स्थानीय काग्रेसियो मे मे एकहत्थी सत्ता टिकाए रखना चाहने वाले, लोगो को आर्थिक-प्रलोभन से खीचकर मत प्राप्त करने के लोभ से प्राय उक्त आज्ञा को ठुकरा देते है। जिसका नतीजा यह होता है कि जनता मे से अच्छे व्यक्तियो को आगे आने का मौका नही मिलता, अगर कोई साहस करके आ भी जाता है तो उसे टिकने नही दिया जाता। फलत इन सामाजिक-आर्थिक प्रवृत्तियो मे भ्रष्टाचार, पक्षपात, रिश्वतखोरी और गडबड-घोटाले चलते रहते है, उनपर रोक-टोक करने वाला कोई नही होता। इसलिए अगर उक्त जन-सस्था कम-से-कम अपना एक प्रतिनिधि हर सहकारी मडली और पचायत सस्था मे नियुक्त कर दे तो वह इस पोलपट्टी को नही चलने देगा, कार्य भी शुद्ध व जनतालक्षी होगा और लोकतत्र सही माने मे सार्थक होगा।

(७) **मध्यस्थ प्रथा द्वारा न्याय दिलाना**—गृहस्थाश्रमी लोगो मे कई बार छोटी-सी बात पर कहासुनी हो जाती है, पैसे के मामले मे नोक-झोक भी हो जाती है, कई दफा किसी अन्याय, अनाचार, शोषण, बेईमानी, अधिकारहरण आदि के मामलो मे हाथापाई, मारपीट और गालीगलौज भी हो जाते है। आए दिन अखबारो मे कत्ल, दगे, मारपीट आदि की घटनाए पढते है। ऐसे मौके पर एक पक्ष लडता है तो दूसरा पक्ष भी मरने-मारने को उतारू हो जाता है, इस प्रकार या तो दोनो पक्ष शैतानी धारण करके कानून हाथ मे ले लेते है, या एक पक्ष दबकर चुपचाप बैठ जाता है, अन्याय सहन करता है, अथवा दूसरे पक्ष पर मुकद्दमा दायर करता है। मुकद्दमेबाजी मे प्राय वही जीतता है, जिसके

पास पैसा हो, सिफारिश हो या सत्ताधारियो का आश्रय हो। गरीब या मध्यमवर्गीय लोगो को प्राय शुद्ध न्याय मिलने की आशा नही रहती। साथ ही समय, शक्ति और धन तीनो बर्बाद होते है और दोनो पक्षो मे से एक के जीत जाने पर भी उभयपक्ष मे प्रेम-भग होता है सो अलग। इसकी अपेक्षा एक मध्यस्थ व्यक्ति उक्त जन-सस्था की ओर से तथा दोनो पक्ष के समझदार विश्वस्त एव ईमानदार दो-दो सज्जन नियुक्त करके उस मामले को निपटाया जाय तो इस मध्यस्थ (न्यायी पच) प्रथा द्वारा सस्ते मे, थोडे समय मे और दोनो पक्षो मे प्रेम सलामत रहते हुए किसी भी प्रश्न मे शुद्ध न्याय मिल सकता है। और यह काम जन-सस्था ही ठीक तौर से कर सकती है।

आध्यात्मलक्षी नैतिक संस्था के कार्यो का विश्लेषण

उपर्युक्त जन-सस्था के बताए गए कार्यो मे प्रेरणा देने और उसकी पूर्णतया नैतिक चौकी रखने के लिए इस जन-सेवक-सस्था की अनिवार्य आवश्यकता रहेगी। समाज के नवद्रष्टा और क्रान्ति के सही मार्ग पर चलने के आकाक्षी व्यक्तियो को इस रचनात्मक पुण्य कार्य मे जुट जाना पडेगा। यह सब कार्य उन्हे सगठनो के जरिये सम्पन्न करने है। पुरजोश से आ रही बाढ से बचने के लिए जैसे मनुष्य जो और जितने भी साधन मिलते है, उन्हे लेकर प्रयत्न करता है, वैसे ही समग्र समाज मे आ रही अनिष्टो, पापो, विकारो, विलासी एव पाश्चात्य भौतिक सस्कारो एव स्वच्छन्दता की बाढ को रोकने और समाज को उससे बचाने के लिए अथवा समाज उसमे फँस रहा हो तो निकालने और शुद्ध करने के लिए जो और जितने भी अच्छे साधन मिले, उन्हे लेकर काम मे जुट पडना है। आध्यात्मलक्षी सर्वांगीदृष्टि रखकर सारे समाज को नीति-धर्म की ओर मोडना है। इसमे उन जन-सेवको (रचनात्मक कार्य करो) का स्वय का भी विकास है, समाज का भी। उनके भरणपोषण (जीवन निर्वाह) की चिन्ता समाज या सस्था को करनी होगी। ऐसे व्यक्ति या तो वानप्रस्थी [पति-पत्नी दोनो ब्रह्मचर्य-पूर्वक] होगे, या

ब्रह्मचारी भाई-बहन होंगे या फिर वे उच्च कक्षा के गृहस्थाश्रमी होंगे, वे निर्वाह-कम लेकर अपना जीवन-सर्वस्व समाज-सेवा मे लगाएगे। उनके कार्यो का क्रमश विश्लेपण इस प्रकार है —

(१) सामाजिक-आर्थिक क्षेत्र पूर्वोक्त जन-सस्था के हस्तगत कराना—जन-सस्थाओ का सुन्दर ढग से निर्माण करके उन्हे इतनी शक्तिशाली बनाना कि उनका दबाव राज्यसस्था [सरकार] पर पडे और राज्यसस्था अपने कब्जे मे रहे हुए उक्त दोनो क्षेत्र जन-सस्थाओ को सौप दे। तब समग्र राष्ट्र की सामाजिक-आर्थिक-नीति जन-सस्थाएँ निर्धारित करेगी। आज एक तो जन-सस्थाएँ ही थोडी है, दूसरे जो है उनकी आवाज सरकार तक नही पहुँच पाती, इस कारण शहरी और बुद्धिजीवी अच्छा बोलने वाले जो थोडे-से लोग सामाजिक-आर्थिक क्षेत्र की नीति निर्धारित करते है, वही ८५ प्रतिशत ग्राम्य ग्रामजनता को माननी पडती है, इससे सरकार न तो उस जनता का ही हित कर पाती है और न बुद्धिजीवियो का। ये दोनो क्षेत्र जन-सस्था के हाथ मे रहने क्यो आवश्यक है, इसका कारण हम पहले बता चुके है।

(२) जगह-जगह ऐसे जन-सगठन खडे करके उनका सचालन करना, प्रेरणा देना —इसका आशय स्पष्ट है। जब तक नैतिक और आध्यात्मिक परिबल का सहयोग जनसस्था को नही मिलता, तब तक जनता की शक्ति अपर्याप्त रहती है, वह समग्र समाज के सभी प्रश्नो को पूर्णतया हल नही कर सकती। और जनसेवक-सस्था या क्रान्तिप्रिय साधु वर्ग को जब तक जनसस्था का विपुल सामाजिक बल नही मिलता, तब तक ये दोनो राज्यसस्था या समाज के निहित स्वार्थी एव शोषकवर्ग से अहिंसकरूप से टक्कर लेने मे अक्षम है। अत जनसस्थाओ की नितान्त आवश्यकता है। उनके बिना समाज मे पारस्परिक क्लेश, स्वच्छन्दता, अराजकता, समाज के तथाकथित अगुओ की लापरवाही, अधाधुन्धी और धनिको की सत्ताशाही आदि दोष दूर नही किए जा सकते। साथ ही जनसस्थाओ की सुदृढता के लिए उनके सचालको (जनसेवको)

का ध्यान नीति और चारित्र्य की ओर रहना चाहिए तथा उपर्युक्त दोषो के प्रविष्ट होने से पहले ही या होते ही, उन्हे फौरन अहिंसक उपायो से दूर करने चाहिए, अन्यथा इन दोषो के अति मात्रा मे बढ जाने पर फिर रोकना अति कठिन होगा। जनसस्था के सचालको को स्वय नम्रातिनम्र सेवक बनकर कठोरतापूर्वक नियमो का पालन करते हुए समय-समय पर सस्था के नियमो मे समस्त सदस्यो की राय से या सहमति से सशोधन-परिवर्द्धन करते रहना चाहिए, तभी वे समाज मे नये मूल्य स्थापित कर सकेगे और समाज-शुद्धि व क्रान्ति का काम जन-सस्थाओ के जरिये कर सकेगे।

(३) **शैक्षणिक-सांस्कृतिक क्षेत्र की प्रवृत्तियां अपने अधीन रखकर चलाना**—शिक्षा और सस्कृति-सस्कार के कार्य उन्ही लोगो की सस्था के हाथ मे रहने चाहिए, जो नि स्पृह हो, समाज से कम-से-कम लेकर बदले मे अधिक देते हो, जिन्हे शिक्षा और सस्कृति मे दोष पैदा होने के कारणो की पूरी जानकारी हो, जो रात-दिन समाज को सुसस्कृत, उन्नत और विकसित बनाने और उसका धर्मदृष्टि से निर्माण करने का चिन्तन करते हो। सरकार के हाथ मे इन दोनो क्षेत्रो के रहने से उनमे यान्त्रिकता आएगी, भारतीय-सस्कृति का विचार कम होगा, सर्वांगी दृष्टि न होने से समाज को योग्य शिक्षण-सस्कार नही मिलेगे। आज ये दोनो क्षेत्र सरकार की मुट्ठी मे है। भले ही शिक्षण-सस्थाएँ जनसेवक चलाते हो, किन्तु उनमे सरकारी हस्तक्षेप होता रहता है। अत अब जनसेवक-सस्था को ये दोनो क्षेत्र सरकार के हाथ से अपने हाथ मे लेकर उनकी विविध प्रवृत्तियाँ भारतीय-सस्कृति के अनुरूप चलानी चाहिए।

शिक्षण कार्य मे केवल अक्षरीय ज्ञान या पुस्तकीय ज्ञान ही नही है, अपितु लोक-शिक्षण का कार्य काफी विशाल है। लोकशिक्षण मे जनता के रहन-सहन, प्रवृत्ति, पोशाक, रीति-रिवाज, स्वच्छता, आरोग्य, न्याय आदि सभी प्रकार की तालीम आ जाती है। इसी प्रकार सांस्कृतिक

क्षेत्र मे केवल नृत्य, गीत, नाट्य ही नही अपितु शील, सदाचार, प्रामाणिकता, अनाक्रमण, सत्य, अन्याय का अहिंसक प्रतीकार, वेश्यासुधार; पतित और तिरस्कृतवर्ग, पिछडी जातियाँ तथा महिला जाति का उत्थान आदि कार्य भी समाविष्ट है।

(४) राजनीतिक क्षेत्र में कांग्रेस के प्रति स्वयं सहानुभूति रखते हुए जनसंस्थाओ के साथ उसका राजकीय मातृत्व सम्बन्ध जोडना—जब तक सारा मानव समाज इतनी उच्च भूमिका पर न उठ जाय कि वह स्वय ही सहजभाव से नियमो का पालन कर ले, उसे कानूनो की जरूरत न रहे, तब तक सरकार की जरूरत रहेगी। और सरकार की जरूरत रहेगी, इसलिए यह सोचना होगा कि सबसे अच्छी सरकार कौन-सी है। आज तो लोकतत्रीय सरकार ही सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। उसमे भी भारत मे लोकतत्र का विकास अपने निराले ढग से हो रहा है। ऐसी दशा मे जो राजनीतिक सस्था वर्षो से म०गाधीजी द्वारा धर्मनीति के सस्कारो से पुष्ट हो, भारतीय-सस्कृतिकी बुनियाद पर आधारित हो, सत्य-अहिंसा के प्रयोग के अनुभव वाली हो, उस राष्ट्रीय महासभा (काग्रेस)के प्रति (भले ही आज उसके सदस्यो मे विकृति आ गई हो)आकर्षण होना स्वाभाविक है। दूसरी बात—उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद आदि के खिलाफ वह वर्षो से लड रही है और अतर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे पचशील का झण्डा लेकर राजनीतिक क्षेत्र मे उसने शुद्ध वातावरण फैलाने का काफी काम कर दिखाया है। आज उसने सभी क्षेत्र अपने हस्तगत कर लिए है, जिससे वह अतर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे भी पूर्णत काम नही कर सकती और राष्ट्र में राजनैतिक क्षेत्र के अलावा किसी क्षेत्र मे क्रान्ति नही कर पाती। इसलिए उसके हाथ मे सिर्फ राजनीतिक क्षेत्र हो तो उसके द्वारा अतर्राष्ट्रीय क्षेत्र की राजनीति को शुद्ध किया जा सकता है। और यह तभी हो सकता है, जब उसे मतो की ओर से निश्चित बना दी जाय। उसके साथ जनसस्थाओ का राजनीतिक मातृत्व-सम्बन्ध जोडने के पीछे यही आशय है कि उसे मतो की ओर से तसल्ली हो जाय और अन्य उक्त चारो क्षेत्रो को वह

तद्योग्य सस्थाओ को सौप दे। और जनता भी प्रतिदिन की राजनीतिक घटनाओ से तालीम पा सके और तद्रूप निर्माण कर सके। राजनीति से जनता को दूर भगाने या स्वय दूर भागने से काम नही चलेगा। हाँ, जनसस्था व जनसेवकसस्था को राजनीतिक दल नही बनाना चाहिए, और न किसी जनसेवक को व्यक्तिगतरूप से राजनीतिक (सरकारी) पद स्वीकार करना चाहिए।

(५) छोटे-बडे अन्याय, अत्याचार तथा अपराध करने वाले व्यक्ति या वर्ग के विरुद्ध सामूहिक रूप से अहिंसक प्रतिकार द्वारा नैतिक-सामाजिक दबाव लाकर उसकी शुद्धि करना—कोई व्यक्ति, वर्ग या राज्य किसी व्यक्ति या वर्ग पर कही और किसी भी मानव-जीवन क्षेत्र मे अन्याय-अत्याचार कर रहा हो, कोई व्यक्ति या वर्ग समाज मे अशान्ति पैदा कर रहा हो, किसी बहन-बेटी के शील पर आक्रमण करने का प्रयत्न करता हो, बेईमानी, शोषण, ठगाई या कत्ल करता हो, तब यदि वह व्यक्ति या वर्ग जबरदस्त हुआ तो कोई उसके सामने चूं भी नही कर पाता, कोई उसका सामना भी नही कर सकता, यहाँ तक कि धर्मगुरु भी बहुत-सी दफा उसे कुछ नही कह पाते। ऐसी दशा मे समाज मूक और लाचार होकर चुपचाप उसकी बुराई को सह लेता है, जिससे बुराइयाँ दिन-ब-दिन बढती जाती हैं। कानून, पुलिस या न्यायालय का आश्रय भी हर व्यक्ति के लिए अनुकूल प्रतिफल नही लाता। बल्कि प्राय उलटा ही परिणाम आता है। ऐसी दशा मे सगठित जनसस्था द्वारा इस जनसेवक-सस्था के सचालन से सामूहिक तपत्यागात्मक प्रक्रिया-वाला अहिंसक शुद्धिप्रयोग गुनहगार व्यक्ति या वर्ग के खिलाफ किया जाय तो उसका परिणाम बहुत ही अनुकूल आता है। गुनहगार व्यक्ति या वर्ग उस पर आए हुए जनसस्था के सामाजिक एव जनसेवक सस्था के नैतिक दबाव के कारण अपनी भूल स्वीकार करने को तैयार होता है, समाजनियुक्त पच जो फैसला या सजा दे, उसे मानने और पालने को बाध्य हो जाता है। इस प्रक्रिया द्वारा अपराधी व्यक्ति या

वर्ग की शुद्धि तो होती ही है, मगर समाज मे भी शुद्धि का वातावरण तैयार होता है, शुद्धि की तालीम मिलती है। परन्तु यह शुद्धि प्रयोग विधि, क्रम, सावधानी, अनुवन्ध आदि का पूरा अध्ययन करने के वाद ही करना चाहिए।

इसके कारण किसी की छोटी-सी भूल होते ही उसे समाज से वहिष्कृत कर देने और अधर्मपथ पर चढने को वाध्य कर देने की परम्पराएँ समाज मे से दूर होगी। क्योकि कोई वडे-से-वडे अपराध का कर्त्ता भी यदि जनसेवकसस्था के समाज सेवक के पास आकर अपनी भूल प्रगट करता है, जाहिर मे भी घोपित करने को तैयार हो जाता है तथा समाज-नियुक्त पच उसे शारीरिक दण्ड के सिवाय जो कुछ दण्ड दे, उसका पालन करने को उद्यत हो जाता है कि तुरन्त उसकी शुद्धि हो सकती है। समाज भी इतना उदार है कि ऐसे शुद्धिप्रिय व्यक्ति को शीघ्र माफी दे देता है। इस प्रकार समाज-सेवक वहुत-से व्यक्तियो को सही राह पर चढा सकते है।

कई लोगो को वेकारी या आर्थिक तगी के कारण नीतिभ्रष्ट होना पडता है, समाज के द्वारा वहिष्कार (उसे सुधरने का मौका दिये विना, उतावली से) कर दिये जाने के कारण कई लोग तग आकर दूसरे धर्म-सम्प्रदाय या जाति-कौम को अगीकार कर लेते है, यही नही वे वहिष्कृत व्यक्ति कई वार समाज-द्रोही या राष्ट्र-द्रोही तक वन जाते है। अत. ऐसे दुर्भविष्य से वचने के लिए समाज के नियमो से विचलित होने, मार्गभ्रष्ट या पतित होने वाले व्यक्तियो को समझा-वूझा कर शीघ्र उनकी शुद्धि करके अपनाने चाहिए। कदाचित् इस कार्य को सम्पन्न करते समय भूत-भविष्य के परिणामो से अनभिज्ञ रूढिचुस्तवर्ग कदाचित् क्षुव्ध हो, परन्तु अगर लोकप्रतिष्ठित जनसेवक सस्था इस कार्य को हाथ मे लेगी तो उसकी क्षुव्धता इतनी गलत प्रतिक्रिया नही पैदा कर सकेगी। इसके विपरीत, ज्यो-ज्यो शुद्धि कार्य का सुन्दर परिणाम नजर आता जायगा, त्यो-त्यो विरोध भी शान्त होता जायगा और सस्थाकीय प्रभाव

भी व्यापक होता जायगा।

ज्ञातिच्युत और धर्मच्युत वर्ग के अलावा अन्त्यज (पिछडे हुए) वर्ग मे भी शुद्धि—आचार-विचार की उच्च सस्कृति—का कार्य इसी कार्य के साथ-साथ इस सस्था को हाथ मे लेना पडेगा। जहाँ तक उच्चजाति के साथ पिछडी जातियो के आचार-विचार मे समानता न आए, वहाँ तक कम से कम उन्हे धार्मिक सस्कारो, सामान्य अधिकारो तथा हवा, प्रकाश, पानी, अन्न, शिक्षण और प्रभुभक्ति आदि के साधनो से वञ्चित तो नही रखना चाहिए, बल्कि उन्हे सहयोग देना चाहिए, इसी मे धर्म और समाज दोनो की सुरक्षा है।

(६) **समाज की नैतिक सुरक्षा रखना**—इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए सर्वप्रथम नीतिमय जीवन वाले व्यक्तियो को अलग छाटना होगा, उन्हे जनसस्था मे लेना होगा। साथ ही ऐसे नीति-जीवनजीवियो को सार्वजनिक प्रतिष्ठा मिले और उन्हे आर्थिक तगी न भोगनी पडे, ऐसा वातावरण समाजसेवको को तैयार करना होगा। दूसरी ओर से वेकारी, कर्जदारी तथा विविध कुरूढियो का पालन समाज मे नैतिक दुर्बलता पैदा करने के कारण है इन्हे दूर करने का योजनाबद्ध प्रयास भी उन्हे करना होगा। कई वार न चाहते हुए भी कई लोगो को विवश होकर अनैतिक जीवन विताना पडता है। मानसिक निर्वलता भी नैतिक-पतन का एक कारण है। मानसिक दौर्बल्य के कारण है—माता-पिता द्वारा उत्तराधिकार मे मिले हुए सस्कार, और समाज का अनिच्छनीय वातावरण। इसके कारण मनुष्य तथाकथित समाज से डर-डर कर विचार और कार्य की चोरी करता है। इसे दूर करने के लिए ऐसे लोगो मे नैतिक हिम्मत पैदा करनी होगी। कई दफा कानून अमुक वर्ग के हित और हक मे होते हुए भी राष्ट्रविरोधी, निहितस्वार्थी, प्रतिक्रियावादी तत्त्व, रिश्वतखोर सरकारी कर्मचारीगण या धर्मान्धतााविष्ट लोग उसकी पराधीनता और नैतिक साहसहीनता का गैर फायदा उठाकर उसे सच्चा लाभ नही लेने देते। ऐसे मौके मे उस पिछडे और पस्तहिम्मतवर्ग मे सगठित अहिंसक

आन्दोलन द्वारा नैतिक शक्ति और जागृति पैदा करने का कार्य करना होगा। साथ ही यह भी सावधानी रखनी होगी कि वह सगठित जन-शक्ति, जिसमे वे नैतिक जागृति ला रहे है, कही तोडफोड, कानून-भग या हिंसा के रास्ते पर तो नही चढ रही है या उसमे दगाखोर या हिंसकतत्त्व तो नही घुस रहे है। प्राय ऐसे नैतिक आन्दोलन क्रान्तिप्रिय साधुवर्ग के मार्गदर्शन से चलाने चाहिए।

समाज की नैतिक सुरक्षा के लिए समाज मे होने वाली प्रत्येक छोटी-से-छोटी घटना का सूक्ष्म निरीक्षण जनसेवकसस्था को नैतिक प्रहरी बनकर करना होगा, अपने उन्नत चारित्र्य-प्रभाव द्वारा नैतिक क्षति को दूर करने का प्रयत्न करना होगा, नैतिक जीवन के बोधपाठ और आदर्श उपस्थित करने होगे, किसी प्रसग पर स्वय सहन भी करना पडेगा और नैतिक सुरक्षा मे ऊपर बताए गए बाधक कारणो को भी दूर करना पडेगा। तभी समाज मे नैतिक सुरक्षा का कार्य सफलतापूर्वक हो सकेगा।

समग्र समाज का ध्यान

इन विधेयात्मक और सघर्षात्मक द्विविध रचनात्मक कार्यों को सफलता पूर्वक सम्पन्न करने के लिए समाज के अनेक वर्गों को हाथ और हृदय—दोनो से जुट पडना होगा। क्या आत्मबलिदान, आत्मभोग या त्याग के बिना कही समाजोद्धार, समाज-सुधार या समाजशुद्धि का कोई भी काम हुआ है? 'हमे समाज से क्या सरोकार?' 'हम अपना उद्धार या सुधार स्वयमेव कर लेगे', यह मान्यता एकागी, क्षुद्रस्वार्थी एव गलत है। यह तो अपने घर की गन्दगी को आगन मे फैक देने की सी मूर्खता होगी। क्योकि व्यक्ति का सौन्दर्य समाज के सौन्दर्य पर निर्भर है। समाज का प्रभाव व्यक्ति पर पडता है। हर व्यक्ति, उसकी सतान या उसके कुटुम्ब आदि सभी को समाज के वातावरण मे ही जीना और रहना है। इसलिए समाजोन्नति की ओर हर व्यक्ति को स्वेच्छा-पूर्वक दत्तचित्त रहना चाहिए। अन्यथा, समाज मे गन्दगी और गन्दे

तत्त्व प्रविष्ट हो जाने पर जबरदस्तो का वर्चस्व बढ जायगा और तब उसे रोकने मे बहुत अधिक जोर लगाना पडेगा, काफी त्याग-बलिदान देना होगा। और वह सौदा महगा होगा। किनारे खडे रहकर तमाशा देखते रहने वाले या 'समाज तो सड गया है, 'पतित हो गया है, 'इस जर्जर समाज को नष्ट हो जाने दो' 'इसे एक धक्का और दो' के नारे लगाने वाले तो समाजद्रोह के और अधिक पाप से मलिन होगे। जिस समाज से उन्होने विकास पाया, बल, बुद्धि, और सस्कार पाए उसे रसातल मे जाते देखकर भी हाथ पर हाथ धरे बैठे रहना स्वधर्म से च्युत होना है और यह सचमुच बहुत बड़ा ईश्वरीय गुनाह है।

व्यक्ति द्वारा समाजधर्म का पालन

यहाँ तक समाज और उसकी प्रगति के बारे मे सस्थाओ द्वारा समाजधर्म-पालन की बात चली, यद्यपि सस्था मे व्यक्ति तो आ ही जाता है, फिर भी मुख्यत सस्था के माध्यम से ही समाज धर्म का पालन करके समाज के विशिष्ट ऋण से मुक्त हुआ जा सकता है। फिर भी यह प्रश्न तो रहता ही है कि व्यक्ति को समाज-धर्म के पालन के लिए क्या करना चाहिए ? यो तो इसका उत्तर ऊपर आ चुका है, फिर भी सक्षेप मे यह है कि समाज को लागू होने वाली हर चीज व्यक्ति को भी लागू होती है। इसलिए व्यक्ति समाज को आत्मीयरूप मानकर यथामति, यथाशक्ति, यथास्थिति समाजोन्नति और समाजप्रगति के कार्य मे पर्याप्त सहयोग दे, अपनी शारीरिक, मानसिक और आर्थिक सेवाएँ समाज को अर्पण करे, समाजोन्नति के कार्य मे रोडे न अटकाए तो यह कहा जा सकता है कि उस व्यक्ति ने समाजधर्म का पालन किया। और एक गृहस्थाश्रमी के द्वारा पालन किया हुआ वह समाज-धर्म नि स्वार्थ होने से उसके आध्यात्मिक विकास का अग बनकर रहेगा।

राष्ट्र-धर्म

अन्य राष्ट्रों के हितों को क्षति न पहुँचाते हुए अपने राष्ट्र के प्रति वफादारी रख कर तन, मन, धन, साधन, श्रम, व्यवसाय, विचार, कला संयम और नीति-धर्म-प्रसार द्वारा राष्ट्र की सेवा करना, राष्ट्र की सुखशांति और समृद्धि बढ़ाने का प्रयत्न करना राष्ट्र-धर्म है। गृहस्था-श्रमी के लिए तो राष्ट्रधर्म का पालन करना अनिवार्य है। इसके बिना गृहस्थाश्रम का सुन्दर निर्माण हो नहीं सकता।

राष्ट्र का ऋण

मनुष्य जिस राष्ट्रभूमि की गोद में खेलता है, राष्ट्रीय संस्कृति से जीवन को सुसंस्कृत बनाता है, जिस राष्ट्र के सौन्दर्य में जीवनरस लूटता है, जन्म से लेकर मृत्यु तक जिस राष्ट्र के अनेकानेक उपकारों से उप-कृत होता है, जिस राष्ट्र के अन्न-पानी से पालित-पोषित होता है, उस राष्ट्र के इस ऋण को चुकाने के लिए मनुष्य को राष्ट्रसेवा की कितनी आवश्यकता है ? इसीलिए कहा गया है—'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' (माता और जन्मभूमि का महत्त्व स्वर्ग से भी बढ़कर है।) इसलिए मातृधर्म की तरह 'राष्ट्रधर्म' प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में स्वाभा-विक होना चाहिए।

राष्ट्रधर्म पालन करते समय

राष्ट्र का स्थान प्रत्येक धर्मशास्त्र में बताया गया है, क्योंकि धर्म-पालन करने वाला व्यक्ति राष्ट्र में ही निवास करता है, राष्ट्र के वाता-वरण से प्रभावित होता है, इसीलिए धर्म-साधक के लिए राष्ट्र का भी महान् उपकार बताया गया है। जैन धर्म के आगम स्थानांग-सूत्र में दश धर्मों में राष्ट्र धर्म ('रट्ठधम्मे') का स्पष्ट उल्लेख है।

राष्ट्रधर्म का पालन करने वाला व्यक्ति यह न समझे कि इसके पालन से आध्यात्मिक धर्म या कुटुम्ब-समाजादि धर्म नष्ट हो जायेगे। और यह भी न माने कि यह धर्म केवल धनिको के लिए है, वल्कि चाहे जिस व्यवसाय, धर्म, जाति, प्रान्त और वर्ग वाले के लिए यह धर्म समान रूप से पालनीय है। अत मनुष्य चाहे जिस मानवजीवन के क्षेत्र मे कार्य करता हो, वह राष्ट्र-धर्म का बखूबी पालन कर सकता है।

राष्ट्र धर्म-पालन के लिए कोई एक सीमारेखा निर्धारित नही की जा सकती। कोई उसमे प्रत्यक्ष भाग लेकर, कोई रचनात्मक कार्य करके, कोई राष्ट्रोपयोगी व्यवसाय द्वारा, राष्ट्रोन्नति के कार्य मे सहायक हो सकता है। इसी प्रकार अपने राष्ट्र की बनी हुई चीज, भले ही थोडी महगी हो, लेकिन उसे ही खरीदना, अपने ही राष्ट्र मे निर्मित वस्तुओ का उपयोग करना सर्वप्रथम कर्त्तव्य है ही, परन्तु अपने राष्ट्र के स्वास्थ्य, व हित को हानि पहुँचे जिससे राष्ट्र बेकार, दरिद्र, दुर्बल और अवनत बनता हो, राष्ट्र मे जिन कुरूढियो से विषमता व अशान्ति, भिन्नता, फूट, प्रातीयता-जातीयता-भाषवाद आदि के झगडे, अनीति आदि फैलती हो वैसा कार्य या तोडफोड, दगे, कानून भग, करचोरी आदि न करना भी कर्त्तव्य है। दूसरे राष्ट्र के साथ अपने राष्ट्र को हानि पहुँचाने की दृष्टि से मिलना, गोपनीय बातो को बताना या प्रकट करना, अपने राष्ट्र पर आक्रमण कराना, षड्यन्त्र रचना, राष्ट्र को धोखा देना, राष्ट्र-द्रोह है। राष्ट्र पर कोई आकस्मिक प्रकोप (भूकम्प, बाढ, रोगादि, उपद्रव, दुष्काल आदि) आ पडे तो व्यक्तिगत या सामूहिक रूप मे अपना कर्त्तव्य समझ कर उबारना भी राष्ट्रधर्म है। राष्ट्र पर किसी भी प्रकार की विपत्ति के समय मूढता, मताग्रह, सम्प्रदायाभिनिवेश, जाति-कौमवाद, या प्रातवाद-भाषावाद के झगडो को एक ओर रख कर, राष्ट्रधर्म का पालन करना अत्यावश्यक है। परन्तु यह याद रहे कि अपनी अधिकार-लिप्सा या सकुचित स्वार्थ वृत्ति वश राष्ट्राभिमान के कारण दूसरे राष्ट्रो को हानि पहुँचाना, दूसरे देश पर व्यर्थ ही चढाई करना, दूसरे राष्ट्र को

जनता को मारना, अपने शील को खतरे मे डालना, राष्ट्रधर्म का पालन नही है, उमसे राष्ट्र की सेवा नही होती।

भारत का अनोखा राष्ट्रधर्म

भारत का राष्ट्रधर्म दूसरे देशो के राष्ट्रधर्म की अपेक्षा कुछ निराला है। दूसरे राष्ट्रो मे राष्ट्रभक्ति की भावना भारतीय जनता की अपेक्षा कही अधिक होती है, परन्तु राष्ट्रभक्ति के नाम से वे दूसरे राष्ट्र के अल्प सख्यक लोगो के अधिकारो को हडपने और उन्हे कुचलने का प्रयास करते हैं, सत्ता हथियाने के लिए दूसरे राष्ट्रो के बाजारो पर कब्जा जमाने का प्रयत्न करते हैं, उनकी गुप्त बातो को निकलवाने के लिए महिलाएँ शील लुटा कर जासूसी करती है। यह राष्ट्रभक्ति नही, राष्ट्रान्धता है। जब कि भारत सदा से अनाक्रमण और सह-अस्तित्व की नीति मानता आया है। यहाँ के राष्ट्रधर्म मे सत्य, अहिंसा, शील को मुख्यता दी जाती है। कोई राष्ट्र अन्यायी बन कर छोटे राष्ट्र को कुचलना चाहे, किसी पर आफत आए तो भारत उसे भरसक मदद करने को हरदम तैयार रहता है और रहेगा।

राष्ट्रीय सरकार और जनता

भारत मे महात्मा गाधीजी आदि राष्ट्र नेताओ के पुरुषार्थ से आज लोकतत्रीय राष्ट्रसरकार है। यद्यपि इस लोकतन्त्र का प्रयो1 सर्वप्रथम पश्चिम मे हुआ किन्तु भारत मे 'स्वदेशी राजतत्र था, तभी एक तरह का समाज-धर्मानुकूल लोकतत्र था। राज्य पर ब्राह्मणो और महाजनो (आज की भाषा मे जनसेवको और जनसगठनो) का वर्चस्व व अकुश रहता था। एक प्रेरकबल और दूसरा पूरकबल था। यहाँ प्रजा को राज्य की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया गया था। भारत के वर्तमान लोकतन्त्रीय शासन पर भी केवल विरोध और नुक्ताचीनी करने वाले विरोधपक्ष के बजाय भारतीय संस्कृति के अत्यधिक अनुरूप, पूरक, प्रेरक बलो की जरूरत है, जिससे सरकार पर नैतिक अकुश भी रह सके,

और वे निःशस्त्र प्रतिकार द्वारा सरकार के द्वारा सशस्त्र प्रतिकार में मर्यादा ला सके। सरकार जनता (८२ प्रतिशत ग्रामवासी जनता) की आवाज को बुद्धिवादी व वाचाल शहरी लोगो के प्रभाव मे आकर दबा न सके, भारतीय सस्कृति के विरुद्ध गलत कदम न उठा सके। इस दृष्टि से राष्ट्रीयजनता का कर्त्तव्य हो जाता है कि यदि वह सही माने मे राष्ट्रोन्नति और राष्ट्रसेवा करना-कराना चाहती है तो अपना अमूल्य मत राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) को ही दे, (जिसका निर्माण, प्रेरकबल, भूतकालीन कार्य, बुनियाद आदि भारतीय सस्कृति के अनुरुप है) अन्य विरोधी पक्षो-कौमवादी, पूंजीवादी, सत्तावादी, दगेवादी, अधिनायकवादी व पश्चिमी सस्कृति से रगे पक्षो को न दे।

राष्ट्रीय सरकार कर्त्तव्य

राष्ट्रीय सरकार के अनेक अग है, मुख्य अग शासन का सचालन व सुव्यवस्था रखने वाला है, यद्यपि वह जनता मे से निर्वाचित होकर आते हैं, फिर भी उन पर राष्ट्र-धर्म-पालन की जिम्मेवारी सबसे अधिक होती हैउन्हे विशिष्ट राष्ट्र धर्म के पालन के लिए के लिए निम्न बातो पर ध्यान देना चाहिए —

(१) वे चाहे जिस पद या कार्य पर नियुक्त हो, वे जनता के स्वामी नही, सेवक है, इसलिए राष्ट्र की गरीबी, सादगी व सस्कृति को देखते हुए तदनुरूप निवास-स्थान, खर्च आदि रखना चाहिए।

(२) राजकर्मचारियो और मत्री-मण्डल मे भ्रष्टाचार न फैले वे अधिकार का दुरुपयोग न करें, लालफीताशाही, भाईभतीजावाद और कार्य-विलम्बिता न फैले, अल्प सख्यको के अधिकार सुरक्षित रहे इसका पूरा ध्यान रखा जाय।

(३) चुनावो मे भी बेईमानी तथा अनैतिक उपाय, पक्षपात आदि न अपनाए जाँय।

(४) प्रान्तीय सरकारो और केन्द्रीय सरकार मे समन्वय और सवादिता बनी रहे।

(५) भारतीय सस्कृति के खिलाफ कार्य—(बडे-बडे कत्ल-खाने खडे करना, मासाहार को प्रोत्साहन देना, हानिकारक व्यसनो—वैश्यावृत्ति, जुए-सट्टे के अड्डो, चोरबाजारी आदि को बढावा देना, राष्ट्र-की उपेक्षा करना, धर्म सहिष्णुता का अभाव, कृत्रिम सततिरोध का प्रचार करना, शिक्षा से धर्म और सस्कृति को दूर रखना, आदि) न करना, हो रहे हो तो उन्हे रोकना।

(६) जनता मे परस्पर प्रेम, वफादारी, श्रमवृत्ति और सस्कृति का विकास बढे और राष्ट्रभक्ति मे वृद्धि हो इस दृष्टि से आम जनता का सपर्क अधिक से अधिक करें।

(७) राष्ट्र-सुरक्षा, न्याय, विदेशनीति, राष्ट्रशाति आदि कार्य ही मुख्यतया सरकार के जिम्मे रहे बाकी के अन्य क्षेत्र जनता और जन-सेवको के सगठनो के जिम्मे रहे।

इस प्रकार हर गृहस्थाश्रमी व्यक्ति राष्ट्रधर्म का पालन करेगा तो उससे स्वय के साथ राष्ट्र व समाज का भी विकास होगा।

आध्यात्मिक धर्म

प्राणीमात्र का ध्येय विकास करना है। किन्तु मनुष्य-जीवन में साधनो की प्रचुरता होने से उसके लिए वह जितना शक्य और स्वाभाविक होता है, उतना पशु या अन्य जीवन के लिए नही होता।

धर्म विकास का मुख्य अग है। आत्मा को पतन से बचाकर, ऊँचा उठाए, उस क्रिया को धर्म कहा जाता है। वह धर्म आध्यात्मिक कोटि तक पहुँचने से पहले भिन्न-भिन्न स्वरूप मे होता है। और उन-उन स्वरूपो मे धर्म को नीति, कर्त्तव्य, कुटुम्ब-धर्म, पडौसी-धर्म समाजधर्म, ग्रामधर्म, राष्ट्र-धर्म इत्यादि नामो से पहचाना जा सकता है।

बाल्य-जीवन से लेकर प्रौढवय तक एक व्यक्ति गृहस्थजीवन मे रह कर उपर्युक्त धर्मों को अपने जीवन मे कैसे उतार सकता है, इन सब बातो को विस्तार से हम पिछले प्रकरणो मे कह आए है। यहाँ आध्यात्मिक धर्म के सम्बन्ध मे विचार करेगे।

आध्यात्मिक धर्म को हम दूसरे शब्दो मे विश्वधर्म कहेगे, क्योकि आज जिस रूढि मे से आध्यात्मिक धर्म गुजर रहा है, उसे फिलहाल एक ओर रखकर आध्यात्मिक धर्म की वास्तविकता के प्रति न्याय करे तो उसकी विश्वधर्मिता अवश्य मालूम पडेगी।

विश्वधर्म

नीति धर्म की बुनियाद है, यह बात हमने दूसरे धर्मो का विचार करते समय दृष्टि मे रखी थी, वह अभी भी रखनी है, अतर सिर्फ इतना ही है कि पहले धर्मो का और उसकी बुनियाद का क्षेत्र केन्द्रित था, सीमित था, अब वह विश्वव्यापी है। क्योकि विश्वधर्म मे जैसे सारा

विश्व समा जाता है वैसे विश्वनीति मे भी विश्व के समस्त प्राणियो का समावेश हो जाता है। नीति मे धर्म को पहिचानना आसान होता है। इसलिए हमने नीति और धर्म का नामभेद रखा है। नीति क्रियात्मक वस्तु है। उसे जल्दी पहिचाना जा सकना है। इसलिए मनुष्य की क्रिया पर से ही उसके धर्मिष्ठ या अधर्मिष्ठ हृदय को नापना और परखना चाहिए।

विश्वधर्म और दूसरे धर्म

विश्वधर्म और इतर धर्म (कुटुम्ब-धर्म, पडौसीधर्म समाजधर्म, राष्ट्रधर्म आदि) मे अतर यह है कि विश्वधर्म तो अपरिमित है, जब कि इतर धर्म अपने-अपने क्षेत्र मे सीमित है। कुटुम्बादि धर्म प्रतिदिन और प्रतिक्षण अदा करने नही होते जब कि आध्यात्मिक धर्म पालन तो प्रत्येक क्षेत्र मे प्रतिपल और हर कदम पर करना होता है। किन्तु कुटुम्बादि अन्य धर्मो के पालन मे यह बाधक नही अपितु सहायक होता है। कुटुम्ब-धर्म बजाने वाले मनुष्य का क्षेत्र उतनी सीमा मे सीमित रहेगा, उसका अर्थ यह है कि आफत के समय उसकी दृष्टि तुरन्त वही टिकेगी और पहले वह उस धर्म का पालन करेगा। इसी प्रकार अन्य सीमित धर्मो के बारे मे समझना चाहिए। परन्तु इतना जरूर है कि स्वय मनुष्य होने से मानवधर्म को तो हर हालत मे, किसी भी धर्म का पालन करते समय भी बजाना नही चूकेगा।

मतलब यह कि दूसरो का नुकसान करके खुद को बचाने जैसा अन्ध-स्वार्थ तो कोई भी किसी भी हालत मे नही करेगा मगर दो आदमी डूबते हो तो उन्हे बचाने मे अल्प शक्तिवाला मनुष्य पहले अपने-अपने निकट सम्बन्धी को बचाएगा। बचाने वाले ने अपने स्वार्थ के लिए दूसरो को डूबाया नही है और न दूसरे को डूबाने की भावना ही रखी है, परन्तु अपनी शक्ति एक को बचाने की होने से उसने ऐसा किया इसी प्रकार कुटुम्बधर्म पालन करने वाले व्यक्ति का अपनी शक्ति के

अनुसार उतना ही सीमित क्षेत्र हो तो कोई बुरा नही है। यह तो समझने के लिए एक उदाहरण लिया है। लेकिन मनुष्य को उतने क्षेत्र मे ही वन्द नही हो जाना है, वह ज्यो-ज्यो आगे (वय, अनुभव, परिपक्वता और विकास की दृष्टि से) वढता जाता है, त्यो-त्यो उसका क्षेत्र भी व्यापक होता जाना चाहिए। और अन्त मे उसे 'आत्मवत् सर्व-भूतेषु' यानी सारे विश्व को आत्म-तुल्य समझना है। इस भावना को समझने और आचरण करने वाले की क्रिया इरादेपूर्वक किसी भी जीव को हानिकर्त्ता न होगी। इसीका नाम विश्वधर्म है।

यदि कोई यह शका करे कि विश्वधर्म तो जव दूसरे सभी धर्मों से ऊँचा है तो दूसरे धर्मों के पालन के पचडे मे न पड कर केवल उसी का ही आचरण क्यो न किया जाय ? इस शका का समाधान भगवद्गीता मे स्पष्टरूप से किया गया है—

'श्रेयान् स्वधर्मो विगुण, परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेय परधर्मो भयावह.॥

अर्थात्—दूसरा धर्म ऊँचा और अतिलाभप्रद दिखता हो और अपना धर्म उसकी अपेक्षा से नीचा और कम लाभ वाला दिखता हो, फिर भी अपना तत्कालीन आचरणीय धर्म श्रेष्ठ जान कर उस धर्म का पालन करते-करते मृत्यु का आलिगन करना पडे तो भी उचित है, परन्तु अच्छे दिखाई देने वाले परधर्म का आचरण करना भयकर है।

कोई इसका अर्थ अन्य प्रकार मे घटाते है, किन्तु प्रसग और मानव मानसशास्त्र की दृष्टि से यही अर्थ प्रसगसगत है। इसका फलितार्थ यह है कि जहाँ तक मनुष्य ने आध्यात्मिक धर्म के आचरण करने की योग्यता प्राप्त नही की, वहाँ तक आध्यात्मिक धर्म उच्च होते हुए भी वह उसका आचरण नही कर सकता, यदि करने जायगा तो वह उसे पचा नही सकेगा, वल्कि वह जवरदस्ती पालन करने जायगा तो अपने सामान्य कर्त्तव्य या धर्म के आचरण से भी च्युत हो जायेगा, आध्या-

त्मिक धर्म का तो पालन उससे होगा ही नहीं, इस प्रकार वह 'धोबी का कुत्ता न घर का, न घाट का' वाली कहावत चरितार्थ करेगा।

आध्यात्मिक धर्म का अजीर्ण

आज भारतवर्ष मे आध्यात्मिक धर्म मे जो विकार दिखाई देता है, उसका कारण आध्यात्मिकता का अजीर्ण है। दूसरे (अवान्तर) किसी भी धर्म या कर्त्तव्यों को समझने या आचरण नहीं करने वाली अधिकांश जनता आध्यात्मिक धर्म और उससे सम्बन्धित क्रिया करती दिखाई देती है, मगर उसके व्यावहारिक जीवन के साथ धार्मिक जीवन का बिल्कुल मेल नही खाता। फिर भी ऐसा व्यक्ति स्वयं यह मानता है कि "मैं जो कुछ धर्मक्रिया करता हूँ। वह भगवान के दरबार मे जमा होता है। और जो पाप करता हूँ, वह ईश्वरीय न्याय के बहीखाते मे उधार लिखा जाता है। उसका फल बाद मे या परलोक मे मिलेगा।" यह मान्यता बिल्कुल भ्रान्तिपूर्ण है। इस मान्यता ने व्यक्ति को ही नहीं, समाज और राष्ट्र तक को महान् हानि पहुँचाई है। इसे स्पष्ट समझने के लिए उदाहरण ले लें —एक अत्यन्त धर्मिष्ठ माना जाने वाला व्यक्ति मदिर, मस्जिद या अपने धर्मस्थान मे जाकर हमेशा पूजा, पाठ या प्रार्थना, स्तुति करता है, तिलक छापे लगाता है, माला फिराता है, भजन गाता है, फिर भी उसका व्यवहार धर्ममय नही होता। वह व्यापार मे उलटी राह चलता है, बेईमानी, ठगाई, अनीति और विश्वासघात करता है, ऊँचा व्याज लेकर कितने ही लोगो को चूसता है, कई कुटुम्बो की रोजी छीन कर या छुडा कर अपना क्षुद्र-स्वार्थसाधन करता है, अपने मातहत (आधीन) कार्य करने वालो को दबाता है, उनसे काम ज्यादा लेकर पैसा कम देता है, लोभ और अति-स्वार्थ मे रचा-पचा रहता है। सतत इतनी धर्मक्रियाएँ करते हुए भी उसके जीवन मे वासना, विकार, हिंसक व शोषणवृत्ति ज्यो की त्यो चलती रहती है। फिर भी वह अपने को धर्मात्मा मान कर झूठा

संतोष पा लेता है और तथाकथित दबा हुआ समाज और धर्मगुरु तक भी उसे सभाओं, उत्सवो या अन्य समारोहो मे प्रतिष्ठा दिया करते है, उसकी प्रशसा किया करते है। ऐसा अनेक जगह दिखाई देता है, उसका कारण शुद्ध व्यापक धर्म या धर्मक्रिया नही है, अपितु आध्यात्मिक धर्म का अजीर्ण है, अहकार है।

आज धर्म के कलेवर को पकड कर अधिकाश लोग धर्म की मूलभूत आत्मा को कितनी भूल गए है इमे प्रत्यक्ष देखने के लिए हिन्दु-मुस्लिम दगे, एक देश से दूसरे देश को अपने धर्म से भिन्न धर्म वालो को खदेडा जाना या वहाँ रहे तो उन पर अन्याय-अत्याचार करना, धर्म के नाम से पालीपोसी जानेवाली अस्पृश्यता आदि दर्पणरूप है। धर्म की आत्मा को पुन प्रतिष्ठापित करने के लिए स्थूलक्रियाओ के कई कलेवरो मे तत्वरित सशोधन-परिवर्धन या परिवर्तन करने पडेगे।

धर्म की व्याख्या

जैन दर्शन मे धर्म की व्याख्या की गई है—'वत्थुसहावो धम्मो' यानी पदार्थ का स्वभावगत गुण ही उसका धर्म है। जैसे पानी का स्वाभाविक गुण शीतलता और स्वच्छता है, तो उसे पानी का धर्म कहा जाता है। जलाना अग्नि का धर्म है, क्योंकि यह उसका स्वभावगतगुण है। इससे फलित होता है कि गुण के साथ गुणी का होना अवश्यम्भावी है। अग्नि मे जलाने का गुण न हो तो उसे कोई अग्नि न कहेगा। इसी प्रकार धर्मी से धर्म कभी अलग तो होना ही न चाहिए। मदिर या धर्मस्थान मे धर्मिष्ठ हो और व्यापार या अन्य स्थलो मे धर्म छूमतर हो जाय, वहाँ पाप आकर डेरा जमा ले तो उस व्यक्ति को धर्मिष्ठ कहा ही नही जा सकता, क्योंकि धर्मी और धर्म का सम्बन्ध सर्वदा अविनाभावी है।

धर्मस्थान मे "जले विष्णु स्थले विष्णुः" और "अद्वेष्टा सर्व-भूताना' या 'मित्ती मे सव्वभूएसु' और 'रब्बिला आलमिन' इस प्रकार

की प्रार्थना विश्वनियन्ता के प्रति करने या परमात्मा के पास विश्व के छोटे-बडे सभी प्राणियो के साथ मैत्री के धर्मसूत्रो का उच्चारण करने वाला किसी भी प्राणी पर द्वेषबुद्धि कैसे रख सकता है ? मनुष्य का दिल दुखाने की क्रिया कैसे कर सकता है ? किसी प्राणी की हिंसा स्वार्थ या जिह्वालोलुपता के वश होकर कैसे कर सकता है ? अगर जीवन मे उपर्युक्त प्रकार का ही व्यवहार होता हो, और धार्मिकक्रिया का असर अपने व्यावहारिक जीवन मे न पडता हो तो समझना चाहिए कि वह सच्ची धर्मक्रिया नही है, किन्तु रूढिगत धर्म क्रिया है।

जैसे व्यक्तिगत, कौटुम्बिक, जातिगत, सामाजिक या राष्ट्रीय रूढियाँ होती है, वैसे धर्म मे भी ऐसी रूढिया होती है। जब धर्म जैसा व्यापक और महान् तत्व रूढि का रूप धारण कर लेता है, तब उसका स्वरूप भी विकृत हो जाता है और उद्देश्यरहित आचरण किया हुआ धर्म सत्य के बदले असत्य और उदारता के बदले वाद और मन की सकुचितता मे बन्द हो जाता है।

आज भारत मे धर्म के नाम से अनेक फिरके, पथ, वाडे और सम्प्रदाय पैदा हो गए है, उन सबके सत्यो का तात्त्विक दृष्टि से समन्वय करना अत्यन्त जरूरी है। जैन, बौद्ध, वैदिक, भागवत (वैष्णव) ईस्लाम, ईसाई, पारसी इन सभी धर्मों के शास्त्रो मे तत्त्वज्ञान को मुख्य और क्रियाकाण्ड, भूगोल, खगोल, इतिहास या गणित आदि की बातो को गौण समझकर विभिन्न धर्मसस्थापको ने अपने-अपने देश, काल, परिस्थिति, कक्षा, वातावरण और लोकमानस की दृष्टि से मानवसमाज को उन्नत बनाने मे, मानव मे मानवता भरने के लिए क्या-क्या कार्य किये है। इसका अध्ययन करके उनके प्रतिआदर व्यक्त करना चाहिए। साथ ही प्रत्येक धर्म को विज्ञान और बुद्धिगम्य व हृदयस्पर्शी तर्कों की कसौटी पर कसकर तथा उनमे घुसी हुई कुरूढियो का सशोधन-परिवर्द्धन करना चाहिए। सभी धर्मों को अपने मानने की दृष्टि रखकर प्रत्येक

धर्म सम्प्रदाय के अग्रगण्यो को सर्वमान्य कार्यक्रमो को अपनाना चाहिए। तभी वे जनता से धर्म का विशुद्धरूप से पालन करवा सकेंगे और अपने धर्म की सेवा बजा सकेंगे।

अपने धर्म-सम्प्रदाय के अनुयायियो की सख्या बढाने के लिए दूसरे धर्मसम्प्रदाय या उसके पालको को हल्का या असत्य बताकर या सम्प्रदायान्तर-धर्मान्तर करवाना भयकर अधर्म है। उससे दूर रह कर सिर्फ मानवजाति को उन्नत बनाने का प्रयत्न किया जाय तो उसमे व्यक्ति, कुटुम्ब, समाज, देश और विश्व की आत्माओ का श्रेय और प्रेम दोनो सधते ही रहते हैं।

सबसे पहले मानवधर्म

जैनधर्मसूत्रो मे श्रमण भ० महावीर ने आध्यात्मिक विकासक्रम का स्पष्ट वर्णन किया है। धर्म-व्याख्या मे सबसे पहले मनुष्यमात्र को मानवधर्म भलीभाति समझकर उसे अपने जीवन मे उतारना चाहिए, यह जोर देकर कहा है। मनुष्य पहले जिस स्थान पर इस लोक मे नियुक्त हुआ है, उस स्थान को स्थिर करना सर्वप्रथम अनिवार्य है। मतलब यह कि मानवधर्म के गुण उसे सबसे पहले प्राप्त करने चाहिए।

मानवजाति को पीडा पैदा करने वाला एक भी कर्म न करना, बल्कि उसकी पीडा देखकर उसे दूर करने के लिए तन-मन से साधनो का त्याग करना ही मानवधर्म है। अधिकाश पशुओ मे भी अपनी जाति के प्रति प्रेमभावना होती है तो मानव मे वह अधिकमात्रा मे (अपनी जाति के प्रति) होनी चाहिए।

मानव अपने इस धर्म से च्युत न हो और किसी को कष्ट न पहुँचाए, इस प्रकार के मानव धर्म को मानवजाति के महान् उपकारी महर्षि मनु आदि ने स्मृतियो द्वारा नीति या कर्त्तव्य के रूप मे प्रगट किया है। प्रत्येक व्यक्ति को अपना सामान्य और विशेष सुख प्राप्त करने के लिए नीति और कर्त्तव्य के रूप मे विहित मानवधर्म का पालन करना चाहिए।

नीति, न्याय, प्रामाणिकता, ईमानदारी ये सब नीति के पर्यायवाची शब्द हैं। मनुष्य-मनुष्य को ठगे-चूसे या लूटे नही, मनुष्य-मनुष्य पर अन्याय-अत्याचार न करे, मनुष्य-मनुष्य का तिरस्कार या अपमान न करे, इन और ऐसे ही अन्य कार्यों का नाम नीति है। नीति की पूर्णतया सुरक्षा हो तो मानवजाति सुख से रह सकती और विकास-मार्ग मे प्रगति कर सकती है।

आज के धर्म सम्प्रदायो मे सबसे बडा गलत मूल्याकन यह हुआ है कि अनीति से उपार्जित धन को पुण्य मे और दानमात्र को पुण्य या धर्म मे बताया गया। धर्म के नाम से हुए इन गलत मूल्याकनो को जडमूल से बदला नही जायगा, तब तक यह मलिनता दुनिया का सत्यानाश करती रहेगी। वास्तव मे दिया जाने वाला दान अनीतिजन्य पदार्थों का है या नीति-अर्जित पदार्थो का, इसी पर पुण्य और पाप का आधार है। और उसके पीछे रहे हुए शुद्ध या अशुद्ध भावो पर धर्म या अधर्म निर्भर है।

नैतिक कर्त्तव्य सही तौर से पालन करने पर मानवधर्म का पालन समझा जायगा। मनुष्य-धर्म की रक्षा करके तो मनुष्य ने अपनी मूल-पूजी की ही रक्षा की है। दरअसल, मानवजीवन का ध्येय तो मुनाफा कमाना है, जो विकास की ओर प्रगति करने से ही प्राप्त हो सकता है। इसीलिए आदर्श गृहस्थाश्रमी के लिए अपने कौटुम्बिक कर्त्तव्य (अपने निकट-सम्बन्धी आप्तजन आदि के प्रति अदा किये जाने वाले कर्त्तव्य) का सर्वप्रथम पालन करने के साथ-साथ विकास-मार्ग मे आने वाले कुटुम्ब धर्म, पडौसी धर्म, समाजधर्म, ग्रामधर्म और राष्ट्रधर्म आदि का उत्तरोत्तर पालन कर विश्वधर्म या आध्यात्मिक धर्म का पालन करके विकास के उच्चशिखर पर चढना अनिवार्य है।

आध्यात्मिक धर्म के अंग

महाभारत मे इस धर्म के पाच मुख्य अग बताये है :—

'अहिंसा सत्यमस्तेय त्यागो मैथुनवर्जनम्।
पञ्चेष्वेतुषु धर्मेषु सर्वे धर्मा: प्रतिष्ठिता: ॥'

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, त्याग और ब्रह्मचर्य ये पाच धर्मो (धर्मांगो) पर सभी (कुटुम्ब-समाज-राष्ट्रादि धर्म) धर्म प्रतिष्ठित है।

प्रत्येक धर्मसस्थापक ने प्राणिमात्र के हित को लक्ष्य मे रखकर देश, काल, परिस्थिति, लोकमानस आदि का विचार करके इन पाँचो सिद्धातो (धर्मांगो) की लगभग समानरूप से स्थापना की है। कोई भी सघबद्ध-धर्म हिंसा, असत्य, चोरी, विलास और परिग्रहवृद्धि मे धर्म नही मानता।

उपर्युक्त धर्मांगो को पुष्ट करने और उनका सुविधापूर्वक सरलता से पालन करने के लिहाज से विविध सघबद्ध धर्मो ने अनेक नियम और विधिविधान बनाए हैं, उनमे समय-समय पर सशोधन-परिवर्द्धन भी हुए है, कही देश-काल की दृष्टि से उनमे अन्तर भी है।

जैनधर्म ने भी धर्म के उक्त पाच अगो को साधु के लिए महाव्रत और गृहस्थ के लिए अणुव्रत के रूप मे बताए है और सामान्य गृहस्थ भी उनका सहजरूप से रसपूर्वक जीवन मे आचरण कर सके, इस प्रकार का स्पष्ट, उदार और सुन्दर विचार किया है साथ ही उन पाच अणु-व्रतो का रचनात्मकरूप से पालन कर सकने के लिए उनके पोषक तीन गुणव्रतो और चार शिक्षा व्रतो की योजना भी की है। वे पाच, अणुव्रत इस प्रकार हैं —

अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, स्वपत्नीसतोषव्रत, परिग्रह-परिमाणव्रत।

अहिंसाणुव्रत का निषेधात्मकरूप

१ किसी भी पञ्चेन्द्रिय जीव (पशु, पक्षी और मनुष्य) को बिना अपराध के लेशमात्र भी इजा न पहुँचाना, उन्हे तकलीफ हो ऐसा कोई भी कार्य मन, वाणी और व्यवहार से न करना।

२ अपराधी को भी बलाबल देकर यथाशक्य क्षमा करना।

३ कीडे आदि छोटे जीवजन्तुओ को भी जानबूझ कर ईजा न पहुँचाना ।

४ गृहकार्यो, उद्योग-धधो या आक्रमणकारी अपराधी का विरोध करने मे न्याय की रक्षा करने मे, या किसी अपराधी या भूले हुए को सुधारने मे जो हिंसा हो जाती है, वह गृहस्थ के लिए क्षम्य है, किन्तु उसमे भी कम-से-कम आरम्भ (हिंसा) हो, ऐसा विवेक रखा जाय ।

५ सूक्ष्महिंसा (मिट्टी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति मे जो चैतन्य है, उन एकेन्द्रिय जीवो की हिंसा) जो गृहस्थजीवन मे अनिवार्य है, उसमे सयम और विवेक रखा जाय ।

वर्त्तमान जैनो और हिन्दुओ मे उपर्युक्त अहिंसापालन का कई वार उल्टा क्रम या विकृत रूप नजर आता है, यानी सूक्ष्मजीवो की अहिंसा के प्रति जितना लक्ष्य जाता है, उतना मनुष्यो के प्रति प्राय नही दिखाई देता, यह उनकी नासमझी का दोप है, धर्म का दोप नही ।

अहिंसाणुव्रत का विधेयात्मकरूप

ऐसा गृहस्थाश्रमी अहिंसक हिंसा न करे, इतना ही नही, हिंसा को सह भी न सके तथा दूसरो के लिए यथाशक्ति उपयोगी बने, किसी को दु खी देखकर वह चुपचाप खडा न रहे, परन्तु उसके दु ख को दूर करने के लिए यथाशक्ति प्रयत्न करे । अहिंसक क्षमावान् होता है, किन्तु उस-की क्षमा मे कायरता, दब्बूपन और नम्रता और गुलामी या खुशामदी का जरा भी अश नही होता । जिसमे शौर्य और औदार्य दोनो हो, वही अहिंसा का अधिकारी समझा जाता है । विधेयात्मक अहिंसा मे दया, अनुकम्पा, रक्षा, सेवा, परोपकार, प्रेम, क्षमा, मैत्री, करुणा, नम्रता वात्सल्य, दान, अतिथि सत्कार आदि अग आ जाते है । केवल निषेधा-त्मक रूप की अहिंसा अधूरी है ।

दया, अनुकम्पा, रक्षा और करुणा

सामान्य तौर से दया और अनुकम्पा ये दोनो एकार्थक शब्द माने

जाते है, लेकिन दया की अपेक्षा अनुकम्पा उच्च है, क्योकि अनुकम्पा मे ठेठ आत्मा तक गहराई से विचार होता है, जबकि दया मे परदु ख को नष्ट करने की भावना पैदा होती है, करुणा मे परदु ख दूर करने के लिए शुद्ध साधन जुटा कर सक्रियरूप से व्यक्ति तैयार होता है और रक्षा तो सामान्यरूप से दुर्बल, पीडित, पददलित, त्रस्त, आक्रान्त व्यक्ति को बचाने के लिए व्यक्ति को प्रेरित करती है। परन्तु अनुकम्पा मे दूसरो का दु ख देखकर, उस दशा का सवेदन अपने मे किया जाता है, उसके प्रति सहानुभूति रखी जाती है। अनुकम्पावान मनुष्य अनुकम्पा के लिए सत्य-सिद्धात की रक्षा करते हुए अपना सर्वस्व होमने को तैयार हो जाता है, वह प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से किसी का दिल नही दुखायेगा दु खता होगा तो बचाएगा। सक्षेप मे 'आत्मन प्रतिकूलानि परेषा न समाचरेत्' (स्वय को जो क्रिया प्रतिकूल हो उसका आचरण दूसरो के प्रति भी न करे) के अनुरूप अनुकम्पावान का बर्ताव होता है। उसका ऐसा बर्ताव केवल अपने स्वजन-सम्बन्धियो के प्रति ही नही अपने मात-हत रहने वाले अदने आदमी और पशु के प्रति भी होता है। कठोरता और निर्दयता के बदले उसमे स्नेह और सौजन्य होता है। इसीलिए अहिंसाणुव्रत की व्याख्या मे मनुष्य जाति ससार मे अधिक उपयोगी है, एक मनुष्य के जीवनसुधार मे सैकडो अन्य प्राणियो का कल्याण है वहाँ द्रव्यदया की अपेक्षा भावदया पर विशेष जोर दिया है तथा पशु आदि तथा अपने आश्रित जो मनुष्य जाति के अत्यन्त उपयोगी व सेवा करने वाले है, उनके प्रति दया रखना भी बताया है।

मैत्री, प्रेम और वात्सल्य

किसी भी मनुष्य को इरादतन वैरी न बनाना, सबके साथ शान्ति सन्धि और सहअस्तित्व पूर्वक रहना, किसी प्रसग पर कोई सघर्ष हो जाय तो उसका समाधान कर लेना, परस्पर मिलकर हितकर कार्य सोचना, सबके प्रति बन्धुभाव रखना मैत्री है, परन्तु प्रेम मैत्री का जनक,

दया का प्रेरक और अहिंसा-वर्धक तत्त्व है। मनुष्य को स्वार्थत्यागी बनाकर उदारता के क्षेत्र में पहुँचा देनेवाला व प्रत्येक विकास की प्रवृत्ति में अनुत्तर साधन प्रेम है। प्रेम सद्गुण को ढूंढना और देखना है। एक दम्पती का स्नेह जब शुद्ध होकर प्रेम में परिवर्तित होता है, तब वह गृहस्थाश्रमी होते हुए भी वह विश्वकल्याण के कार्य में जुट कर स्वार्थ के साथ परमार्थ की साधना कर लेता है। मैत्री में दोनों ओर की बराबरी (सद्गुणादि समान हो यह) देखी जाती है, और वह टिकती भी तब, तक ही है, जब तक दोनों ओर का परस्पर विश्वास, सहकार और समाधान मिलता रहे, अन्यथा टूट जाती है। जबकि प्रेम में प्रीतिपात्र के दुर्गुणान्वेषण करने की या समानता देखने की वृत्ति नहीं होती। परन्तु प्रेम में यह खतरा है कि उसमें कभी-कभी प्रेम के बहाने मोह आ घुसता है और वह धीरे-धीरे एक पात्र, एक समाज, एक राष्ट्र, एक प्रान्त या एक धर्म के दायरे में बंद हो जाता है। जबकि 'वात्सल्य' में मोह को विकार या संकुचितता को जरा भी स्थान नहीं है, उसमें प्राणिमात्र के प्रति आत्मीयता, या कुटुम्बिता साधी जाती है, अपनी आत्मा के साथ सारे विश्व का तार जुड़ जाता है। इसलिए वात्सल्य आत्मा का स्वरूप है। जितना इसका विकास और शुद्धि होगी, उतनी ही आत्मा-भान की स्थिरता समझी जायगी।

अतिथि-सत्कार, दान, परोपकार और सेवा

अपने घर पर आए हुए अतिथि का सत्कार करना गृहस्थाश्रमी का अनिवार्य धर्म है। जिस घर में अतिथि निराश होकर, खाली हाथ लौट जाता है, यहाँ तक कि जहाँ आगुन्तक व्यक्ति को कुशल प्रश्न या सहानुभूति भरे प्रेम के दो बोल भी नहीं मिलते, समझलो वह गृहस्थाश्रम स्नेह शून्य और दूषित है। अतिथि चाहे जिस जाति, धर्म या देश का हो, उसका प्रेमपूर्वक आदर करना और अपने घर में जो भी भोज्य-सामग्री हो, उसमें से यथाशक्ति देकर संतुष्ट करना, उसके साथ मित्रवत्

व्यवहार करना, उसकी सुविधाओ का ख्याल रखना, यह अतिथि-सत्कार कहलाता है ।

दान का दायरा अतिथि-सत्कार की अपेक्षा विशाल है, क्योकि अतिथि-सत्कार तो घर मे आए हुए का ही किया जाता है, जबकि दान तो बाहर रहे हुए दानयोग्य दु खी, असहाय, भूखे, गरीब, पीडित आदि को भी किया जाता है । परन्तु दान के साथ पात्र का विचार हो, दान करने वाले मे अहभावना पैदा न हो, देय द्रव्य भी शुद्ध हो और तद्-योग्य हो, उपयोगिता का विवेक हो, यह अनिवार्य शर्त है । अन्यथा अविवेकपूर्वक किए गए दान से लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक होती है । बडे-बडे उत्सवो, प्रीतिभोजो, आडम्बरो या मृतकभोज आदि मे हजारो-लाखो रुपयो का धुआ उडाना और वाहवाही के लिए मिष्टान्न उडाना, दान नही है, दुर्व्यय है । नैतिक रूप से पुरुषार्थ करके उपार्जित साधनो का सिर्फ अपने स्वार्थों के लिए उपयोग करना, उचित नही, इसलिए उसमे से अमुक हिस्सा उसे समाज या राष्ट्र के लिए उपयोगी सुसस्थाओ, निराधार विधवाओ, अशक्तो, अपगो, रोगियो, अनाथो या वृद्धो के लिए निकालना चाहिए । और यही समझना चाहिए कि दान किसी पर एहसान या उपकार करना नही है, किन्तु पदार्थों पर से अपने स्वत्व या ममत्व को धीरे-धीरे कम करने के लिए निकालने योग्य वस्तु को निकालना है । इसीलिए दान की परिभाषा जैनाचार्य उमास्वाति ने की है—'अनुग्रहार्थ स्वस्यातिसर्गो दानम्' (अपने पर अनुग्रह करने के लिए वस्तु का त्याग करना दान है) दान देने वाले व्यक्ति देय पात्र को ढूढे, पर पात्र दाता को न ढूढे, तभी सच्चा दान हो सकता है । इसके लिए दाता स्वय ऐसे उपयोगी पात्रो—व्यक्तियो या सुसस्थाओ—को समाज और राष्ट्र मे से तलाश करे । बाह्य क्षणिक कीर्ति, प्रतिष्ठा के लिए समाचार पत्रो मे प्रशसा पाने अपने नाम की तख्ती लगाने या अपनी नामवरी के लिए आडम्बर करने मे दान अपवित्र बनता है, उस का पुण्य समाप्त हो जाता है ।

परोपकार का दायरा दान की अपेक्षा विशाल है, क्योंकि दान में तो प्राय. किसी पदार्थ का ही योग्य पात्र को अर्पण करना होता है, जबकि परोपकार मे अपनी शक्ति, अधिकार, भावना, वाणी, शुभविचार, बुद्धि, श्रम तथा धनादि अन्य साधन, जो स्वय को प्राप्त हुए है, उसका लाभ नि स्वार्थ भाव से, बदले की भावना न रखकर दूसरो को देना होता।

प्रकृति, नदियाँ, वृक्ष, सूर्य, चन्द्र, छाया आदि मनुष्य पर नि स्वार्थ उपकार कर रहे है, इनमे से कई थोडा-सा लेकर जगत् को बहुत देते है, इसे सच्चा परोपकार कहा जा सकता है। मनुष्य जो कुछ प्रवृत्ति करता है, उसमे एक या दूसरी तरह से अनेक प्राणियो का उपकार है। परस्पर उपकार से ही हम सब का जीवन टिका हुआ है। उपकार के बदले उपकार करने को सहकार या सहयोग कह सकते है। वह भी परोपकार का एक अग है। माता-पिता, कुटुम्ब, समाज और विश्व की अगणित सेवा मनुष्य ने ली है और ले रहा है, अगर उसके बदले मे वह प्रत्युपकार न करे तो वह कर्जदार या कृतघ्न कहलाता है, उतना ही नही, उसका जीवन पशु से भी निकृष्ट है। अत मनुष्य के अपने दूरगामी स्वार्थ या विकास के लिए परोपकार का आचरण अनिवार्य है।

दान और परोपकार की अपेक्षा सेवा एक-दो कदम आगे की वस्तु है। दान और परोपकार करने वाला मनुष्य तो साधन देकर अलग हो जाता है, जबकि सेवा करने वाले व्यक्ति को अपने कार्य से यश मिले या अपयश, धिक्कार मिले या प्रशसा अपना हृदय समभावी रखना पडता है। सेव्य के साथ उसके हृदय का तार अत तक एक सरीखा जुडा रहे, सेव्य व्यक्ति पर क्रोध, ग्लानि,घबराहट, भेदबुद्धि या तिरस्कार भाव कदापि पैदा न हो तभी सच्ची सेवा कही जा सकती है। सेवा मे धन की अपेक्षा तन और मन की उदारता की अधिक आवश्यकता होती है। इसलिए 'योगियो के लिए भी सेवा-धर्म अगम्य है' यह भर्तृहरि ने कहा है । परन्तु इतना कठिन होते हुए भी आदर्श गृहस्थाश्रम मे तो

विकासकांक्षी गृहस्थ को कौटुम्बिक क्षेत्र से लेकर विश्वक्षेत्र तक क्रमशः इसकी साधना करना अनिवार्य है।

सत्याणुव्रत

प्राणिमात्र के लिए जो त्रैकालिक हितकर है, वह सत्य का शुद्ध स्वरूप है। इसे जैनदर्शन तीन भागो मे बाट देता है—वचनसत्य, मन सत्य और कायसत्य अर्थात् सत्य बोलना, सत्य आचरण करना, और सद्विचार करना। जैसा देखा, सुना, सोचा, समझा, कहा या अनुमान किया हो, वैसा ही उसे मन-वचन-शरीर की प्रवृत्तियो द्वारा प्राणिहित की दृष्टि प्रगट करना सत्य है। गृहस्थाश्रमी मनुष्य इतना सत्याचरणी, सत्यवादी, सद्विचारक होना चाहिए कि उसका विश्वास समाज मे, राज्य मे, कुटुम्ब मे या राष्ट्र मे सबको हो, उसके भरोसे पर मनुष्य काम कर सके, इतनी साख उसकी होनी चाहिए। ऐसा सत्याणुव्रती किसी को अपने आचरण से धोखा नही दे सकता, विश्वासघात नही कर सकता, दम्भ या प्रच्छन्न पाप नही कर सकता, वचन देकर उसको भग नही कर सकता, झूठी साक्षी, झूठ लेखन, झूठ भाषण, झूठे दस्तावेज, झूठे वहीखाते, जाली सिक्के या नोट नही चला सकता, किसी को वाग्जाल मे फसाकर अपना स्वार्थ नही सिद्ध कर सकता, अपने व्यापार-धधे या पेशे अथवा नौकरी मे झूठ नही बोल सकता, किसी पर झूठा दोषारोपण या झूठी निन्दा चुगली भी नही कर सकता, वह चीजो के एक भाव, एकदाम ही कहेगा। जो प्रतिज्ञा ली है, उसका पूरा पालन करेगा, जो प्रण लिया है उस पर मृत्युपर्यन्त टिका रहेगा, सत्य को सिद्ध करने के लिए अशुद्ध या असत्य साधन नही अपनाएगा। मतलब यह है कि दूसरो को अहित पहुँचाने वाली कोई भी प्रवृत्ति व्यवहार या व्यापार वह नही करेगा, फिर चाहे वह स्त्री जाति सम्बन्धी, पशु सम्बन्धी, भूमि सम्बन्धी, वा धन या साधन सम्बन्धी ही क्यो न हो।

कोई मनुष्य असत्य नही बोलता, इतने से ही उसे सत्याणुव्रती नही

कहा जा सकता। अपनी कार्य-प्रवृत्ति, मौन चेष्टा या इंगित आदि द्वारा भी मनुष्य असत्याचरण करता है।

पूर्ण सत्य तो बहुत ही सूक्ष्म है, और उसे शास्त्रो मे 'भगवान्' कहा है, उसे सर्वांगपूर्ण रूप से पकडना बहुत ही कठिन है, फिर भी वैसे सत्य के लिए मन, वचन और कर्म की एक वाक्यता—यानी जैसा सोचना वैसा ही बोलना और जैसा बोलना वैसा ही कर बताना—की साधना प्रत्येक जीवन मे उपयोगी है। सत्य और अचौर्य दोनो का घनिष्ठ सम्बन्ध है, जो सत्य की साधना करेगा, वह चोरी का दोष नही करेगा।

अचौर्य अणुव्रत

अचौर्य का अर्थ केवल चोरी न करना इतना ही नही है, अपितु दूसरे के हक की वस्तु का उसकी सम्मति के बिना उपयोग करना, दूसरे का हक हरण करना, मन, वचन और काया से दूसरे के अधिकार की चीज को अपने अधिकार मे कर लेना भी चोरी है।

यो देखा जाय तो बडी चोरी [सेंध डालकर] करने वाला वर्ग बहुत ही कम है, किन्तु एक किस्म का माल बनाकर दूसरा माल देना, ऊँचा मुनाफा या ब्याज लेकर जरूरत मद को चूसना, भावो मे उथल-पुथल कर देना, झूठे विज्ञापनो द्वारा लोगो को ठगना, चोरी का माल लेना, चोर-बाजारी से माल लाना या लाने के लिए प्रेरित करना, खोटे तौल-नाप रखना या उनमे बेईमानी करना, लेते समय भोले व्यक्ति को देखकर तौल-नाप मे अधिक लेना, वस्तु मे हानिकर चीज मिलाना या रद्दी, सडी-गली वस्तु [पूरे दाम लेकर भी] देना, हिसाब-किताब मे गोलमाल करना, दूसरे की धरोहर हजम कर जाना, जिस काम के लिए जनता या किसी व्यक्ति ने रकम जमा कराई हो, उसे अपने काम में या अन्य काम मे उससे पूछे बिना लगा देना, जाली बहीखाते बनाकर विक्रय-कर, आय-कर आदि बचाना, रिश्वत देना या लेना, अपने हक से अधिक

लेना, किसी की मालिकी चीज कही पडी हो, उसे उठाकर अपने कब्जे मे कर लेना, दूसरे के लेख की नकल करना, दूसरे लेखक की लिखी हुई पुस्तक पर अपना नाम प्रकाशित करवा देना, दूसरे के आविष्कृत विचारो पर अपने नाम की मुहरछाप लगाना, अपने आश्रित नौकरो को थोडे पैसे देकर अधिक काम लेना, किसी के नाम का अपने स्वार्थ के लिए उपयोग करना आदि सब चोरी मे शुमार है। ऐसी चोरियाँ अचौर्याणुव्रती नही कर सकता। ऐसी सफेद चोरियो का नतीजा बहुत भयकर होता है। जो गृहस्थ आध्यात्मिक धर्म का पालन करना चाहता है, वह इसका पालन अच्छी तरह से करेगा।

ब्रह्मचर्याणुव्रत : स्वदार सतोष

ब्रह्मचर्य का अर्थ पाँचो इन्द्रियो के विकारो पर सयम रख कर आत्मा मे रमण करना—विचरण करना है। ब्रह्मचर्य की महिमा व लाभ आदि के बारे मे 'विवाह विचारणा' आदि प्रकरणो मे काफी विवेचन किया गया है। ब्रह्मचर्य के भी तीन भेद हो सकते है—कायिक, वाचिक और मानसिक। कायिक ब्रह्मचर्य पालन करने वालो को सर्व-प्रथम जननेन्द्रिय पर नियत्रण करने के बाद तुरन्त कामविचार पर नियत्रण करना चाहिए, अन्यथा केवल कायिक ब्रह्मचर्य पालन करने से ब्रह्मचर्य की पूर्ण साधना या सफलता नही मानी जायगी। कामविचार पर जितनी मात्रा मे नियत्रण आता जायगा, उतने ही अश मे ब्रह्मचर्य की सफलता है। कामविचार रोकने के लिए अपनी दृष्टि, व स्वादेन्द्रिय (जिह्वा), पर सयम, विलासिता का त्याग, सतत जागृति, आलस्य का त्याग, अपनी शक्ति को उपयोगी कार्यो मे लगाते रहना, विकारोत्तेजक दृश्य श्रवण, साहित्य या सग छोड कर ब्रह्मचर्यपोषक सात्त्विक वाचन, विचार, श्रवण और सत्सग करते रहना चाहिए।

गृहस्थाश्रमी व्यक्ति धीरे-धीरे ब्रह्मचर्य के कठोर मार्ग मे सफलता पाने के लिए पहले परस्त्रीत्याग और स्वस्त्री मे भी मर्यादित ब्रह्मचर्य पालन करने पर शास्त्रकारो ने जोर दिया है। साथ ही इस मर्यादित

ब्रह्मचर्य पालन मे भी उन्होने जो सावधानियाँ बताई है। उन पर ध्यान देना चाहिए तभी मर्यादित ब्रह्मचर्य कायिक, वाचिक और मानसिक तीनो रूप मे पाले जा सकेंगे। प्रत्येक गृहस्थाश्रमी को उपर्युक्त नियमो के प्रति लापरवाह न रहना चाहिए। स्वस्त्री मर्यादा मे भी उसे धीरे-धीरे सकोच करते हुए पूर्ण ब्रह्मचर्य की ओर बढना चाहिए।

परिग्रह-परिमाणव्रत : आसक्ति-त्याग

परिग्रह परिमाण का अर्थ तो इतना ही है कि अपने पास जो कुछ स्थावर-जगम [खेत, जमीन, मकानात, धन, धान्य, सोना-चाँदी, द्विपद, चतुस्पद प्राणी या गृहस्थी की साधन सामग्री आदि] है, उसकी मर्यादा बाँध लेना। परन्तु उसका फलितार्थ यह है कि जिन वस्तुओ पर अपना स्वामित्व है, उन पर से आसक्ति कम करना या आसक्तित्याग करना। आसक्तित्याग का मार्ग बडा ही कठिन है। किन्तु गृहस्थाश्रमी के लिए असाध्य नही है। उसे विकास के लिए इस मार्ग को अपनाए बिना कोई चारा नही है। आसक्तित्याग के लिए उसे अपना जीवन सादा, सयमी और कम से कम आवश्यकता वाला बनाना होगा। साथ ही फलासक्ति, कर्मासक्ति [कर्म करने मे अहत्व] अकर्मासक्ति [कर्म ही क्यो करूँ ? इस प्रकार सोचकर कर्म छोड़ने की तत्परता] सम्प्रदायासक्ति, पुत्रैपणा, वित्तैपणा और लोकेपणा आदि आसक्ति के विभिन्न प्रकारो को छोडना होगा, ताकि वह आध्यात्मिक धर्म पर आरूढ हो सके, दान, परोपकार, सेवा, दया आदि के कार्यो मे अनासक्त होकर अपने तनमन और साधनो को लगा सके। जैनसूत्र स्थानाग मे सद्गृहस्थ के तीन मनोरथो मे एक मनोरथ यह भी है कि 'कब मैं आरभ-परिग्रह से सर्वथा मुक्त बनूगा।' इस पर से पता लग जाता है कि इच्छाओ, आसक्तियो, एषणाओ आदि का त्याग गृहस्थाश्रमी के लिए कितना अनिवार्य है।

तीन गुणव्रत

उपर्युक्त पाँच अणुव्रतो मे सफलता प्राप्त करने और विशेष आगे बढने के लिए तीन गुणव्रत बताए है —दिशा परिमाणव्रत, उपभोग

परिभोग परिमाणव्रत और अनर्थदण्ड विरमणव्रत ।

दिशा परिमाणव्रत का आशय यह है कि पहले स्वीकृत ५ अणुव्रतो मे अहिंसादि की जो मर्यादाएँ बाँधी गई थी, उन्हे और भी मर्यादित करना । यानी पाँचो अणुव्रतो मे आगे बढने के लिए दिशा निश्चित करके, जो छूट रखी गई थी, उसमे कमी करना । यह व्रत स्वदेशीव्रत का भी पोषक है । क्योकि क्षेत्र मर्यादा होने से मनुष्य निश्चित सीमा के बाहर की वस्तुओ के आरम्भ, परिग्रह आदि दोषो से बच जाता है ।

उपभोग-परिभोग परिमाणव्रत मे तो गृहस्थजीवन मे एक बार या बार-बार काम मे ली जाने वाली वस्तुओ की यावज्जीवन की तथा दैनंदिन की मर्यादा निश्चित की जाती है । यह व्रत गृहस्थजीवन मे अल्पारभ, सादगी और सयम लाने के लिए अत्यन्त जरूरी है । साथ ही इस व्रत मे राष्ट्रघातक, प्राणिहितबाधक और अतिहिंसा, शोषण, व्यभिचारादि के पोषक धधो [जिन्हे 'कर्मादान' कहा गया है] का सर्वथा त्याग गृहस्थ को करना होता है ।

अनर्थदण्डविरमणव्रत मे उन बातो का त्याग किया जाता है, जिनसे पाचो अणुव्रतो मे रखी हुई छूट को लेकर निरर्थक हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य और परिग्रह का पोषण होता है । जैसे मनुष्य अपनी वाहवाही के लिए अहितकर कुरूढियो के पालन के प्रसग मे, बृहत्भोज आदि द्वारा बडा आरभ करता है, पर उससे आरम्भजा हिंसा के सिवाय जनहित क्या होता है ? इसी प्रकार अधिक धन या साधनो का सग्रह होने पर भाई-भाईयो मे आपस मे लडाई-झगडे, मुकदमेबाजी करना तथा दूसरो के धन या साधनो को अपने कब्जे मे करने के लिए हिंसा, असत्य, चोरी या अन्याय-अत्याचारादि पोषक रौद्रध्यान करना एव अपनी प्रिय वस्तु के वियोग होने पर रोने-पीटने, लम्बा शोक करने, व्यर्थ मे भविष्य की चिन्ता करने आदि के रूप मे आर्त्तध्यान करना । इसी प्रकार व्यर्थ का वादविवाद करना, गाली-गलौज करना, निंदात्मक गपशप मारना, व्यर्थ की बकवास करना, हुज्जत करना, विदूषको की तरह कुचेष्टाएँ

करना, कामोत्तेजक या विलासवर्द्धक साधनो या नाटक-सिनेमा आदि का शौक रखना आलस्य मे समय वर्बाद करना अनापसनाप खर्च करना और उसकी पूर्ति के लिए कमाने मे रातदिन एक करना, मन, वाणी और शरीर को निरर्थक निकम्मे विचार वचन, और कर्म मे लगाना आदि अनर्थदण्ड के ही प्रकार है। इनके करने से गृहस्थ को उपर्युक्त पाच पाप वढने के सिवाय पल्ले क्या पडता है ?

चार शिक्षाव्रत

इनके नाम सामायिक, देशावकाशिक, प्रतिपूर्ण पौषधव्रत, और अतिथि सविभागव्रत है। इन चारो मे क्रमश समभाव, सयम, त्याग और सविभाग का पालन वताया गया है। आध्यात्मिक मार्ग मे उत्तरोत्तर विकास करने के लिए ये व्रत है। साथ ही इनमे पूर्वोक्त व्रतो मे गृहस्थ की कहा भूले हुई है ? कहाँ फिसला है ? कहा असफलता या सफलता मिली है ? किसके पालन मे क्या कठिनाई आई ? आगे सक्रिय कदम वढाने के लिए क्या कार्यक्रम वनाना चाहिए, इस प्रकार के निरीक्षण परीक्षण का अभ्यास करना ही शिक्षाव्रत का उद्देश्य है। चिन्तन तो इसमे वहुत जरूरी है, और चिन्तन के लिए आहार, पानी, व्यवसाय या अन्य प्रवृत्तियो से निवृत्ति या अवकाश चाहिए, इस हेतु से सामायिक देशावकाशिक और पौषधोपवासव्रत रखे गए है। किसी भी क्रिया से पहले पीछे तत्सम्वन्धी ऐसे विचार आए, जिनमे आदेश, रूढि या स्वार्थादि के विचार मिश्रित न हो और स्थिरवुद्धि विवेक शक्ति द्वारा जिसका स्पष्ट निष्कर्ष निकल सके, उसे चिन्तन कहते है। मनुष्य को चिन्तन करने की आदत डालनी चाहिए और चिन्तन के वाद जो भी भावना स्फुरित हो, उसे लिपिवद्ध या हृदयाकित कर लेनी चाहिए। ऐसा करने से मानव-जीवन की धाधली और निरर्थक प्रवृत्ति वहुत कम हो जाती है। चिन्तन को उत्प्रेरित करने वाला सद्वाचन या स्वस्थ पुस्तको का स्वाध्याय है। इसके लिए क्रमश तीन शिक्षाव्रत तो अनिवार्य है ही, चौथा अतिथिसविभाग या यथा सविभाग व्रत भी समर्पणयोग की तालीम के लिए जरूरी

है। साँप जैसे अपनी कचुकी छोड देता है, वैसे मृत्यु के समय स्व-स्वामित्व वाली वस्तु—(अपना भरापूरा घर, कुटुम्बीजन और शरीर) तक को वही छोड सकता है, जो अतिथि से लेकर पडौसी, गाँव, समाज और देश तक के प्रति समपर्णबुद्धि से त्याग देने की तालिम पाया हुआ हो। मेरा जो सब कुछ है उसमे सबका हिस्सा है, इस भावना का पोषक यह व्रत है। भक्तियोग की इसमे सक्रिय साधना है।

गृहस्थाश्रम का उत्कृष्ट आदर्श : सेवाधर्म

आध्यात्मिक धर्म के ५ अग और ७ उपाग गृहस्थाश्रम के लिए बताए है, किन्तु गृहस्थाश्रम का चरम आदर्श तो आगे बढने का है। जैन शास्त्रो मे ऐसे कई सद्‌गृहस्थो की जीवनिया वर्णित है, जिन्होने अपने पुत्र के गृहस्थाश्रम-कार्यभार सभालने योग्य होने पर अपना व्यावहारिक बोझा अपनी सतान या निकट सम्बन्धी पर डालकर उस प्रवृत्ति से मुक्त हुए हैं। उस साधक गृहस्थ को जैन परिभाषा मे प्रतिमाधारी श्रावक कहा है। उसकी ११ कठोर प्रतिज्ञाए बताई गई हैं, जिन्हे वह क्रमश अपने जीवन मे धारण करता है, जिनमे मुख्यत व्यापक स्पष्ट सम्यक् दर्शन, व्रतबद्धता, पूर्ण ब्रह्मचर्य का जागरूकतापूर्ण पालन, सादगी और खानपान विशेष सयम, लोककल्याण और जीवन शोधन के कार्य मे पडकर आत्मविकास और सद्‌गुणो की विशेष साधना करने के हेतु गृहकार्यों-व्यापार तथा स्वय आरम्भ करने आदि से निवृत्ति आदि प्रतिज्ञाए है। जो वैदिक धर्म की वानप्रस्थाश्रमी प्रथा से मिलती-जुलती हैं। आज इन दोनो प्रथाओ का द्रव्यक्षेत्रकाल भावानुकूल सशोधन होना जरूरी है। आज वह जैन परम्परानुसार गृहकार्य निवृत्ति अकेला नही होगा बल्कि वैदिक परम्परानुसार पति-पत्नी दोनो परिपक्व वय होते ही निवृत्त होगे, परन्तु समाज रचना के कार्यों से निवृत्त नही होगे, और न ही वे वन मे या एकान्त मे प्रस्थान करेंगे, वे जनता के प्रति प्रस्थान करेंगे, जनता के निर्माण मे लगेंगे, जनसेवा के कार्य मे अपना-अपना सर्वस्व समर्पित कर देंगे।

इनमे कुछ ऐसे भी बहन भाई होगे जो पूर्ण ब्रह्मचर्य का व्रत लेकर आजीवन समाजसेवा के कार्य मे लगेगे। उन्हे समाज हर तरह से अपनाएगा, सारे समाज को वे अपना कुटुम्ब मानेगे, और स्व-पर कल्याण भावना मे लगेंगे।

कुछ इस प्रकार गृहस्थाश्रमी भाई बहन होगे, जो मर्यादित ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए, स्वाभाविक सतानमर्यादा निश्चित करके समाज रचना के विविध कार्यों मे प्रवृत्त होंगे।

इन तीनो कोटि के साधक-साधिकाओ (जनसेवक-जनसेविकाओ) के सामने अपना ध्येय निश्चित होगा और वे विविध जन संस्थाओ के सचालन निर्माण द्वारा धर्ममय समाज रचना के कार्य मे ओत प्रोत रहेगे। इस प्रकार के उत्कृष्ट सेवाधर्म के पालन मे सच्ची आध्यात्मिकता का आनन्द मिलेगा, अपना और समाज का विकास भी सधेगा। परन्तु यह सेवाकार्य उन्हे जन-सस्था और जन सेवक सस्था के जरिये करना होगा, ताकि व्यक्तिगत पूर्वग्रह, रागद्वेष, गैरजिम्मेवारी, अहकार आदि साधना मे बाधक तत्त्वो के आने की गुजाइश कम रहे। व्रतबद्ध तो वे होगे ही। उनके जीवन निर्वाह की चिन्ता पूर्वोक्त सस्थाए करेंगी मतलब यह कि उन्हे जनाधारित रहना होगा। इसके सिवाय समाज उन्हे प्रतिष्ठा देगा उनके कार्यों का विश्लेषण 'समाज धर्म' प्रकरण मे हम कर आए है।

उनमे निम्नलिखित गुण विशेषमात्रा मे विकसित होने चाहिए —
(१) सर्वांगी सर्वक्षेत्रीय दर्शन (२) शान्त दृष्टि (३) जिम्मेवारी का सक्रिय भान (४) प्रखरनिष्ठा (५) अटल धैर्य (६) अविरत पुरुषार्थ (७) लोकश्रद्धेय चारित्र्य (८) तप-त्यागात्मक कार्यक्रम मे निष्णात (९) हिसाब किताब की सफाई और (१०) सत्यता-वीरता-अगुप्तानियमितता-व्यवस्थितता, उपयोगिता, सत्य-प्रेम-न्याय और प्रार्थना-सफाई कताई इन चार त्रिपुटियों का जीवन मे स्थान।

इन आध्यात्मलक्षी जनसेवक सगठनो को क्राति प्रिय साधु साध्वी

सन्यासियो की प्रेरणा तो सतत रहेगी ही और वे साधु-साध्वी-सन्यासियो के अगरूप हो जायेगे। उनके द्वारा प्रेरित कार्य को वे प्रत्यक्ष सम्पन्न कर दिखाएँगे। इसलिए उनका व्यक्तिगत जीवननिर्माण भी सरलता से हो सकेगा। इस सेवा धर्म के मार्ग पर चलने से कर्म योग [निरासक्ति योग] ज्ञानयोग और भक्तियोग तीनो की साधना सहज ही हो सकेगी।

विकास की सीढ़ी

पूर्वोक्त व्रतो और सेवाधर्म का पालन करने से आध्यात्मिक विकास कैसे हो जायगा ? यह प्रश्न तो खड़ा ही है। इसका उत्तर यह है कि जैन परिभाषा के अनुसार कर्म से और वैदिक परिभाषा के अनुसार माया से यह चैतन्य विकृत हुआ है और उसका नित्य स्वभाव ज्ञान, सुख और आनन्द होते हुए भी जैनदर्शन के अनुसार क्रोध, मान, माया, और लोभ इन चार कषायो व रागद्वेषो से तथा वैदिक दर्शन के अनुसार क्रोधादि षड् रिपुओ से आवृत होने के कारण प्रतिक्षण दु ख, खेद, चिन्ता आदि का मामूली प्रसगो मे अनुभव करता रहता है। परन्तु इन विकास-रोधक षड् रिपुओ की जितनी मात्रा मे न्यूनता होगी, उतनी ही मात्रा मे आध्यात्मिक विकास अधिक होता जायगा। गृहस्थाश्रम मे आध्यात्मिक धर्म के बताए पूर्वोक्त व्रतो तथा सेवा धर्म के पूर्वोक्त गुणो की साधना द्वारा इन ६ शत्रुओ की न्यूनता होती जायगी। और तब इतना आध्यात्मिक विकास प्राप्त व्यक्ति जेल मे भी महल के से सुख का अनुभव करेगा, शत्रुओ के बीच भी मित्रवत् रह सकेगा, रूखी सूखी रोटी मे भी आनन्द मानेगा, वैभव-त्याग मे भी वास्तविक आनन्द विश्वात्माओ के साथ अभिन्नता का अनुभव करके लूटेगा, समाज के सर्वांगीण विकास मे अपना विकास देखेगा। दूसरो के लिए मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करने मे अपनी मुक्ति मानेगा। इसका कारण कोई चमत्कार नही, आध्यात्मिक विकास ही है।

सभी धर्मसस्थापको ने अपने-अपने देश, काल, परिस्थिति आदि देख कर इन्ही धर्मांगो को क्रियात्मक रूप दिया है। इन क्रिया के लिए बताए

गए विभिन्न चिह्न सिर्फ सम्प्रदाय-परिचय के लिए है, वे धर्म के मुख्य अग नही है। तथा सभी धर्मसस्थापको का अन्तिम ध्येय आत्मविकास ही था और पूर्ण आत्म-विकास की अन्तिम स्थिति मोक्ष, निर्वाण या मुक्ति है और दूसरो के मुक्ति मार्ग का प्रशस्तीकरण है। जो साम्प्रदायिकता के कदाग्रह से नही सिद्ध होती, किन्तु उपर्युक्त व्रतो और गुणो की साधना से ही सिद्ध हो सकती है। क्रियाकाण्ड और चिन्ह तो उसकी पूर्ति के लिए है।

अत गृहस्थाश्रम को सर्वांगीण और पूर्ण आदर्श बनाने के लिए प्रत्येक गृहस्थ को पूर्व प्रकरणो मे बताए गए कर्त्तव्यों और धर्मों का क्रमश पालन करना अनिवार्य है और सुलभ भी। इसीलिए तो गृहस्थो के लिए भी 'गृहीलिङ्गसिद्धा' कह कर मुक्ति के द्वार खुले रखे है।